स्वदेश-परिचय

भारत की नदियों की कहानी

डॉ. भगवतशरण उपाध्याय

स्वदेश-परिचय माला-8

भारत की नदियों की कहानी

डॉ. भगवतशरण उपाध्याय

राजपाल

क्रम

सिन्धु

मैं सिन्धु नदी हूँ, इतनी लम्बी-चौड़ी कि लोगों को मेरे समुद्र होने का धोखा हो जाया करता है। बहुत पुराने काल में जब आर्य लोग इस प्रदेश में आए, तब उन्होंने ही मुझे समुद्र समझकर यह 'सिन्धु' नाम दिया, और इसी नाम से मैं आज हज़ारों साल से पुकारी जाती रही हूँ।

मानसरोवर के उत्तर में तिब्बती हिमालय से मेरा निकास है। ज़ोरकुल झील से–जहाँ से पूर्व में ब्रह्मपुत्र, उत्तर में यारकन्द (सीता) और पश्चिम में आमू नदी (वक्षु) निकलती हैं और संसार की सबसे ऊँची चोटियों से निकलकर मध्य एशिया और कश्मीर के बीच सरहद बनाती हैं–निकलकर पहाड़ों से पंजाब से नीचे उतर आती हूँ। फिर पंजाब और अफगानिस्तान की धाराओं को पीती, सिन्धु के रेगिस्तान में प्रवेश कर जाती हूँ। आगे अरब सागर में मेरा मुहाना है, जहाँ देश-देशान्तर का लाया हुआ सारा जल लिए मैं आसमान चूमती लहरों में विलीन हो जाती हूँ।

मेरी कहानी वास्तव में इतिहास की कहानी है। उठते और गिरते हुए आदमी की कहानी, आज़ादी के लिए जूझते और जुल्म का कहर ढहाते इन्सान की कहानी। और वह कहानी अधिकतर मेरी लहरों पर लिखी गई, मेरी ही घाटी में घटी। उसे घटते मैंने अपनी नीर-भरी आँखों से देखा और नीर ढुलकाती मैं आगे बढ़ गई। रुकना मुझे पसन्द नहीं। बयार जैसे, चाहे मन्द-मन्द ही क्यों न हो, बराबर बहती रहती है; सूरज, चाँद और सितारे जैसे अपनी राह सदा चलते रहते हैं; मैं भी बगैर कहीं रुके समुद्र की ओर बढ़ती जाती हूँ।

बर्फीली चोटियों से निकलकर पिघली बर्फ की राह जब मैं पामीरों से कावा काट-काट पश्चिम की ओर बढ़ती हूँ, तब अपनी लहराती आँखों से उस महान देश को देखती हूँ जहाँ पहली बार आदमी ने बराबरी का रस जाना, उस रूस को जिसकी सरहद मेरी सहायक नदी गिलगित बनाती है। गिलगित हिमालय का वह ऊँचा पठार है, जहाँ से अफगानिस्तान और पठानों का देश, अखरोटों और बादामों के पेड़ों की छाया में अपनी ताकतवर इन्सानी नस्ल के साथ साफ दिखता है और उस ऊँचाई से मैं वह बलख और बदख्शां देखती हूँ, जिनसे होकर आमू दरिया बहता है, अपने आँचल में केसर के खेत फैलाए, और उस फरगना को जिसके शहर समरकन्द में तैमूरी मकबरे का गुम्बद संसार में सबसे बड़ा है, जहाँ बाबर ने बार-बार तख्त पाया और खोया था, और जहाँ बाबर से औरंगज़ेब तक लगातार हिन्दुस्तानी तलवारें चमकती रहीं।

केसर की क्यारियाँ उन पामीरों की छाया में ही नहीं हैं, इधर मेरी ढलान पर भी हैं, झेलम के तीर पर भी, श्रीनगर के खेतों में भी जो कभी कालिदास और रानी दिद्दा की भूमि थी। और कालिदास की याद आते ही उस महाकवि के उस रघु की भी याद आ जाती है, जो मेरे सातों मुखों को लाँघ-कोजक अरमान पहाड़ों को पारकर बदख्शाँ की घाटी में जा पहुँचा था, जहाँ के हूणों को उसने धूल चटा दी थी और केसर की क्यारियों में लोटने से उसकी सेना के घोड़ों की नालों में केसर के लाल फूल भर गए थे।

कैलाश की पवित्र भूमि से चलकर जब कश्मीर की ढलानों से उतरती हूँ, तब सप्तसिन्धु से लगे-फैले पावन महादेश भारत के चरणों में मैं लोट जाती हूँ। उसकी फैली भूमि पर मेरी पतली धारा उमड़ चलती है और उसका विस्तार शीघ्र ही समुद्र-सा दीखने लगता है। अटक मेरे तट पर ही बसा है।

अटक की याद मेरे लिए गौरव और शर्म दोनों की बात है। कभी मेरे ही तीर पर संसार की सभी सभ्यताओं को जीतने वाले आर्यों ने डेरा डाला था, अपने गांवों के बल्ले गाड़े थे। कभी सिकन्दर ने मेरी

धारा लाँघने की कठिनाइयों से घबराकर आँसू बहाए थे, और नावों के पुलों से मुझे पार किया था। जब तक्षशिला के कायर आम्भीक ने भारत का सिंहद्वार खोल दिया था, तब मेरी ही सहायक नदी झेलम के तट पर रात के अँधियारे में, मूसलाधार बरसते मेघों के मध्य जो घटना घटी वह आज भी मुझे नहीं भूली। झेलम चढ़ी हुई थी। सामने नदी-पार, बाँका लड़ाका पोरस अपनी कुमक लिए खड़ा था और जब दिन के

सिन्धु-तीर : आर्य

उजाले में नदी पार करने की हिम्मत सिकन्दर को न हुई तब उसने रात के अँधेरे में राह चुराई। मैं कहती हूँ राह चुराई, क्योंकि इस राह चुराने की अपनी एक कहानी है। अरबेला के मैदान में दारा की दूर

तक फैली हुई सेनाओं के सामने जब साँझ के झुटपुटे में सिकन्दर अपनी फौजें लिए पहुँचा, तब उसके दोस्त सरदार ने कहा कि अभी अँधेरे-ही-अँधेरे में हमला कर दें तो अच्छा, नहीं तो सुबह के उजाले में दारा की समुद्र-सी सेना देख अपने लड़ाकों के पैर उखड़ जाएँगे। तब सिकन्दर ने कहा था कि 'ना, सिकन्दर रात के अँधेरे में नहीं, दिन के उजाले में दुश्मन को जीतेगा, क्योंकि सिकन्दर जीत चुराता नहीं है।' पर उसी संसार जीतने वाले सिकन्दर ने झेलम के किनारे राह चुराकर जीत चुराई, जो मुझे वैसे ही याद है जैसे झेलम के तेवर-भरे पानी का संस्पर्श ताज़ा है। पार की लड़ाई जिस जवाँमर्दी से लड़ी गई, उसकी बात मैं इतिहास के पन्नों के लिए छोड़ती हूँ।

मगर ऐसा भी नहीं कि जो मेरे तीर पर आए, उन्होंने सदा चार आँसू ही डाले। चँगेज़ ने जब मध्य एशिया के ख्वारिज़्म में शाह को उसके देश से उखाड़ फेंका तब शाह काबुल के यिल्दिज़ से जा टकराया। आगे यिल्दिज़, पीछे ख्वारिज़्म का शाह और उसके भी पीछे से अपने खुदाई कोड़े लिए चंगेज़ मेरे तीर पर आ खड़े हुए। यिल्दिज़ मेरी लहरों में खो गया पर शाह उनसे टकराता उन्हें लाँघ सिन्ध जा पहुँचा। और चंगेज़ लौट गया, हिन्दुस्तान की किस्मत पर तिलक लगाकर–वरना उस पर क्या बीतती, यह कहा नहीं जा सकता। ख्वारिज़्म का शाह फिर लौटा और उसने वह कर दिखाया जो दुनिया के इतिहास में अपनी उपमा नहीं रखता। मेरी लहरों से वह फिर जूझा और काबुल लेता, तलवार से राह बनाता वह फिर ख्वारिज़्म के तख्त पर जा बैठा। पर वह बाद की बात है, उससे पहले की सुनिए।

उसी सिकन्दर की बात जिसका बयान अभी-अभी कर चुकी हूँ। सिकन्दर पंजाब की मेरी सहायक नदियों को लाँघता हुआ व्यास तक जा पहुँचा। झेलम, चिनाब, रावी, व्यास–दूर का सफ़र था, और सफ़र कुछ ऐसा आसान नहीं जो आदमी पौ फटते तय कर ले। उस राह चलना लोहे की ज़मीन की छाती को तलवार से फाड़ना था, क्योंकि उस ज़मीन पर आज़ादी के लिए जूझ जाने वाली वे वीर जातियाँ बसती

थीं जिनके पंचायती राज्य थे और जिनकी बहादुरी के गीत गाए जाते थे। कदम-कदम पर उन्होंने सिकन्दर की राह रोकी और अन्त में व्यास के किनारे इस दुनिया को जीतने वाले सिकन्दर की सेना ने हथियार

सिकन्दर की सेना

डाल दिए, आगे बढ़ने से इन्कार कर दिया, क्योंकि व्यास की धारा के उस पार पूर्व का वह देश था जिसकी धाक ग्रीकों के दिल पर बुरी तरह जम चुकी थी। और सिकन्दर को उलटे पाँव वापस लौटना पड़ा।

पर लौटना भी आसान न था, क्योंकि मेरी रावी के तीर पर तो मालव और क्षुद्रक बसते थे। वे हथियारबन्द किसान थे, गज़ब के लड़ाके, जो एक हाथ में हँसिया, दूसरे में तलवार धारण करते थे। सिकन्दर किसी तरह उनसे निपटता सिन्ध आ पहुँचा और उसके बेआबरू होने

की कहानी व्यास और रावी दोनों की धाराओं ने मुझसे आकर कही, जैसे उसके राह चुराने की बात झेलम ने मुझसे कही थी। फिर मेरी ही राह नावों पर चढ़कर मेरे तीर पर बसनेवालों की चोट पर चोट सहती उसकी सेना ने समुद्र की राह ली और स्वयं सिकन्दर मुझे लाँघ बलूचिस्तान की राह भूख-प्यास झेलता काबुल जा मरा। जैसे समुद्र की धारा पहाड़ी तट से टकराकर बिखर जाती है, सिकन्दर की सेनाएं भी उसी तरह मेरे तट पर बसनेवाली वीर जातियों से टकराकर बिखर गईं। जो बचीं उनको मेरे देखते ही देखते चाणक्य और चन्द्रगुप्त ने मेरे पार भगा दिया।

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के पिता समुद्रगुप्त ने जिन शकों और कुषाणों को काबुल भगा दिया, उनको इस देश में आते और लौटते भी मैंने देखा। और यह राज़ जो मैंने जाना, किसी और ने न जाना–कि उन्हीं विदेशियों की सन्तान ने साहिय राजपूतों के नाम से काबुल के परकोटों पर खड़े होकर सदियों भारत के सिंहद्वार की एशिया की खूनी जातियों से रक्षा की। याद है, मेरे तट के पास कश्मीर की रानी दिद्दा से लेकर धारा-उज्जैन के राजा भोज के लड़ाके किस तरह आनन्दपाल के झंडे के नीचे महमूद गज़नवी की चोट से बिखर गए थे, और किस तरह आनन्दपाल ने चिता की लपटों में प्रवेश किया था, क्योंकि उसे प्राणों से ज्यादा सम्मान प्यारा था।

यह तो मैं बातों के सिलसिले में कह गई, वरना बात यह पुरानी है, पीछे की। उससे पहले की बात तो हूणों की है जिन्होंने मेरी घाटी को अपनी लूट और आग से वीरान कर दिया था। मेरे पास ही शौर्यवान स्कन्दगुप्त उनसे टकरा गया था और उसके टकरा जाने से मेरी धारा काँप उठी थी। उसकी भुजाओं की लपेट में हूणों के आ जाने से एक भँवर बन गया था। याद है कि नंगी चट्टानों पर सो-सो कर स्कन्दगुप्त ने रातें बिताई थीं और उन हूणों के घोड़ों की लगाम एक बार तो कम-से-कम रोक ही दी थी, जिन्होंने रोम के विशाल साम्राज्य की रीढ़ तोड़ दी थी, और स्कन्दगुप्त के बाद सिन्ध की राह, मेरी ही राह

काठियावाड़ और मालवा जा पहुँचे। यह राह कुछ नई न थी जो मेरी घाटी से होकर गुज़रती थी, क्योंकि इसी राह कभी आमू-न्तट का ग्रीक राजा दिमित पाटलिपुत्र (पटना) तक जा पहुँचा था।

मैंने टिड्डी-दल की नाईं चलते हूण देखे, आग की लकीर पीछे छोड़ते मंगोल देखे, चंगेज़ और तैमूर देखे। तैमूर, जिसने एक लाख कैदी दिल्ली के पास काट दिए थे, जिसके आने की सूचना आगे भागती हुई जनता के पैरों से उठी धूल देती थी। मैंने नादिर और अब्दाली देखे, रणजीत सिंह और हरि सिंह नलवा देखे। पर रणजीत सिंह और नलवा की कहानी बगैर कहे आगे बढ़ना न हो सकेगा। उससे पहले अगर कोई ज़रूरी बात कहनी पड़ी तो वह होगी केवल बाबर की, जिसने राह की कोई नदी नाव के ज़रिए पार न की और जिसने मुझे भी अपने लम्बे हाथों से तैरकर पार कर लिया था।

तो मैं कह रही थी, महाराजा रणजीत सिंह और उसके सेनापति हरि सिंह नलवा की बात। नलवा रावी के तीर लाहौर से उठा और हमलों का रुख उसने बदल दिया, क्योंकि उसने मुझे पहली बार बताया कि मेरी धारा केवल पश्चिम से पूर्व को ही नहीं, पूर्व से पश्चिम को भी लाँघी जा सकती है। और लाँघ गया वह मेरी धारा। चलता चला गया वह काबुल की ऊँचाइयों तक, जहाँ से कभी गज़नी के तुर्क और गोर के पठान उतरे थे। काबुल की बर्फीली हवा में उसने डर की इतनी गर्मी पैदा कर दी कि अफगानी माताएँ उसके नाम से डरा-डराकर अपने बच्चे सुलाने लगीं। उसके बाद की कहानी फिरंगी अंग्रेज़ ताकतों की कहानी है जिसने न रणजीत सिंह को छोड़ा, न हरि सिंह नलवा को। उससे बड़ी बस एक ताकत हुई, आज़ादी के लड़ाकों की जो फिरंगियों को भी पी गई।

मेरी कहानी अब समाप्त है। बस, एक बात और मुझे कहनी है जो मैं आखिर में कह रही हूँ। पर समय के सिलसिले के अनुसार जिसे सबसे पहले कहना चाहिए था उसे पीछे कहती हूँ, इसलिए कि उस कहानी का सम्बन्ध मेरी निचली धारा से ही है, उस धारा से जो

रणजीत सिंह और उसकी सेना

सिन्ध के रेगिस्तान में आज उतर पड़ती है। सिन्ध का यह रेगिस्तान सदा रेगिस्तान ही न था। कभी मैंने उसे इतना उपजाऊ कर रखा था कि उसमें जौ-गेहूँ के खेत लहलहाते थे, खलिहान हँसते थे और जहाँ आज से कोई पाँच हज़ार वर्ष पहले दुनिया की पहली सभ्यता मेरी घाटी में मौज मारती थी।

लरकाना के जिन मैदानों से होकर मैं बहती हूँ, वहाँ कभी नगर बसते थे और उन नगरों का नगर था मोहनजोदड़ो। मोहनजोदड़ो उसका आज का नाम है और जैसा उसका नाम है वैसी ही उस अभागे नगर की कहानी भी है। मोहनजोदड़ो का मतलब है 'मुर्दों का टीला'। एक दिन ऐसा आया, जब भूचाल ने उस नगर को लील लिया। उसके नागरिक निगल लिए, उन नागरिकों के पक्के ईंट के भवन, उसकी साफ-सुथरी

सड़कें, उसके नहाने के तालाब, उसकी समूची सभ्यता उस भूचाल ने डकार ली। और मैंने लपटों से झुलसी जलती चिता की तरह खड़े उस नगर को अपनी लहरों में निमग्न कर लिया।

यह मेरी कहानी है–इन्सान के दुःख-दर्द की कहानी। पर मुझे कोई दुःख-दर्द नहीं व्यापता। मैंने विजय की जय-जयकार सुनी है, पराजय की कलपती कराह सुनी है, लहू और आँसू झेले हैं, पर मुझे कुछ भी न व्यापा। मेरी लहरें सदा की भाँति आज भी उमड़ती समुद्र की ओर बढ़ती जा रही हैं, सतलुज, व्यास, रावी, चिनाब व झेलम की धाराएँ लिए, गिलगित, काबुल, कुर्रम, गोमती की धाराएँ लिए!

गंगा

मैं गंगा हूँ, विशाल हिन्दू जाति की पतितपावनी गंगा, जिसके स्पर्श से पाप धुल जाते हैं। हज़ारों साल से दूसरी धाराओं के साथ मेरे संगमों पर या मेरी ही अपनी धारा में लोग स्नान करते आ रहे हैं। भारतीय सभ्यता का अधिकांश मेरे ही तट पर या मेरी सहायक नदियों के तट पर बना है। मेरी घाटी में भूमि सोना उगलती है। क्या आश्चर्य कि लोग मुझे माँ कहते हैं–गंगा माँ।

तेरह हज़ार फुट ऊँचे गंगोत्री पहाड़ों से पिघली बर्फ की दो गज़ पतली धारा गोमुख के नीचे बस पन्द्रह इंच गहरी है। मन्दाकिनी और अलकनन्दा की दोनों क्षीण धाराएँ मिलकर जब कनखल के पास पहाड़ों से नीचे उतरती हैं, तब मेरा नाम 'भागीरथी' पड़ता है और मेरा कलेवर भी चौड़ा हो जाता है। दूध का-सा मेरा सफेद रंग चाहे मैदानों में उतरकर गन्दला हो जाता है, पर बरसों रखने पर भी यह खराब नहीं होता। इसी से लोगों ने मेरे जल को अमृत कहा है और मेरी धारा को सुरसरि–देवताओं की नदी!

मेरा विस्तार डेढ़ हज़ार मील से अधिक है और अनेकानेक नदियाँ मेरे कलेवर में अपनी काया मिलाती हैं। मेरे जन्म में महात्माओं की मिट्टी मिली है, मेरा कण-कण पवित्र है। मेरे तीर पर महान राज्यों की स्थापना हुई, एक से एक बढ़कर वीरकर्मा जातियाँ बसीं, विशाल नगरों के निर्माण हुए। जहाँ मैं अपने पिता हिमालय से नीचे उतरती हूँ, वहाँ हरिद्वार का पुण्यतीर्थ बन गया है और कुछ उसे हरद्वार (शिव का द्वार) तो कुछ हरिद्वार (विष्णु का द्वार) कहते हैं। द्वार निश्चय वह शिव और विष्णु दोनों के धाम का है। उस स्थल पर बारह वर्षों के बाद जब कुम्भ

का मेला लगता है तब लाखों की संख्या में लोग देश के कोने-कोने से वहाँ जा पहुँचते हैं। याद है, एक दिन उसी कुम्भ मेले में निर्भीक स्वामी दयानन्द ने सदियों की रूढ़ियों को ललकारते हुए धर्म के भयंकर ठेकेदारों के बीच अपनी 'पाखंडखंडिनी पताका' फहरा दी थी।

मेरे पहाड़ों से नीचे उतरते ही उस दोआब का आरम्भ होता है जिसे मैं और यमुना दोनों मिलकर बनाती हैं और जिस मध्य देश की

गंगा के तीर एक नगर

महिमा बराबर गाई गई है। मेरी महिमा वेदों ने गाई, पुराणों ने मेरे यश का विस्तार किया। बड़ी शुभ घड़ी थी जब राजा हस्तिन ने हस्तिनापुर का नगर मेरे तट पर बसाया। तब वही नगर चन्द्रवंशी भरत-कुल की राजधानी बना। भरतों की ही सन्तान कौरव-पाण्डव थे। उसी कुल में

शकुन्तला ब्याही थी। महाभारत का महासमर ठनने के पहले मेरे तीर के हस्तिनापुर में वासुदेव कृष्ण ने दुर्योधन को कितना समझाया था, पर दुर्योधन ने एक न सुनी और महाभारत का महासमर होकर ही रहा। बाद में, अर्जुन के पड़पोते जनमेजय के भी बाद, जब मैंने देखा कि पाँडवों का वह राजकुल शक्तिहीन हो गया है, तब उसको अपयश से बचाने के लिए, मैंने अपनी धारा में ले लिया। हस्तिनापुर डूब गया।

मध्य प्रदेश में उतरते ही बाईं ओर वह दोआब पड़ता है जहाँ कभी राजा द्रुपद की राजधानी अहिछत्रा थी। आज भी रामनगर में उसकी छाया डोलती है। वह पंचालों का देश है, जहाँ पिछले काल में उनकी राजधानी काम्पिल्य हुई। उपनिषदों के ज्ञान के धनी राजा प्रवहण जैवालि की सभा कभी ज्ञान का अखाड़ा थी, जहाँ बड़े-बड़े ऋषियों ने शास्त्रार्थ किए थे। आगे कन्नौज है, जहाँ पाटिलपुत्र से उखड़कर राजलक्ष्मी कभी आ बसी थी। मौखरी राजाओं ने उसे बल दिया, हर्ष ने उसे अपनी राजधानी बनाया, पाल, प्रतीहार और राष्ट्रकूट उसके लिए जूझते रहे और अन्त में गहड़वालों ने उसमें अपनी शक्ति की प्रतिष्ठा की। भवभूति और राजशेखर ने कभी वहीं मेरे तट पर बैठ अपने साहित्य लिखे, यशोवर्मा की कीर्ति पर कश्मीर के ललितादित्य मुक्तापीड़ ने तब कालिख पोत दी। गहड़वालों की शक्ति बड़ी थी, पर मैंने उन्हें भी धूल चाटते देखा। जयचन्द का सँवारा कन्नौज मेरे देखते-देखते लुट गया जब शहाबुद्दीन गोरी के रिसाले मेरे तीर पर आ खड़े हुए।

प्रयाग में सरस्वती के तट से उठकर यमुना के साथ मेरे संगम पर नए सिरे से यज्ञ-हवन होने लगे। इसी से मेरे और यमुना के कोने में बसे इस नगर का नाम भी प्रयाग पड़ा, इसी से दूर पानीपत के पास रेत में खोई सरस्वती को भी लोगों ने हमारे इस संगम पर छिपा पाया और उसे त्रिवेणी कहा। प्रयाग के हमारे इस संगम पर मेरी और यमुना की धाराओं के बीच रेत पर प्राचीन काल से स्नान होता आया था। ऋषियों के आश्रम बने थे। राम ने वहीं भारद्वाज के उपदेश सुने थे, वहीं राजा हर्षवर्धन हर पाँचवें साल अपनी सारी सम्पत्ति गरीबों में बाँट

दिया करता था। उसी संगम पर एक दिन गाँधीजी की भस्मीभूत अस्थियाँ भी जल में निमग्न हुईं। प्रयाग निश्चय ही तीर्थराज बना।

मेरे उसी तट से उठकर महान गुप्तों ने पाटलिपुत्र पर अधिकार किया और मगध का विशाल साम्राज्य बनाया। विश्वनाथ शिव के निवास से पवित्र काशी मेरे ही तीर पर खड़ी हुई, जिसके पुण्य की कथा पुराणों ने बार-बार कही है। मेरी धारा वहाँ घूमकर आधे चन्द्रमा के आकार की हो गई है और अटारियों की सीढ़ियाँ मेरे जल में खो गई हैं। उनके कलश-कँगूरे मेरी काया में समाकर थर-थर काँपते हैं। उस महानगरी की शालीनता और दीनता दोनों मैंने देखी हैं। हज़ारों साल से लोग दूर-दूर से वहाँ मेरे स्पर्श के लिए आते रहे हैं। पद्मावती के भारशिव नागों ने बार-बार विदेशियों को हराकर वहाँ अवश्मेध किए थे, बार-बार उन्होंने मेरे जल में स्नान किया था। उनके अश्वमेधों की गिनती के ही कारण आज वहाँ मेरे एक घाट का नाम भी दशाश्वमेध पड़ गया है। वहीं असी घाट पर तुलसीदास ने अपना रामचरितमानस लिखा।

आगे मगधखण्ड है। छपरा के पास सरयू के संगम तक मेरी धारा कुछ उत्तर-पूर्व को हो चली है। याद है, बक्सर के पास चौसा में मेरे तट पर पठान शेरशाह ने शहंशाह हुमायूँ को मेरी धारा में ढकेल दिया था और मैंने विजयी बाबर के उस बेटे और महान अकबर के पिता को अपनी लहरों में डूबते-उतराते देखा था। भिश्ती की मशक ने तब हुमायूँ की जान बचाई थी। और आगे बक्सर के पीछे के मैदान में मेरे ही तट पर बंगाल, अवध और दिल्ली की मिली सेनाओं को फिरंगी क्लाइव से हार खानी पड़ी थी, जिससे इस देश की हुकूमत ही विदेशी हो गई थी।

थोड़ी दूर पर सरयू की वह धारा मुझसे आ मिली है, जिसके तट पर मनु की सन्तान इक्ष्वाकु राजकुल के सूर्यवंशी राजाओं ने अयोध्या में अपनी सत्ता कायम की थी, और अपनी कीर्ति की कहानी लंका से तक्षशिला तक लिखी थी। सरयू के साथ मेरा वह संगम देह रहते स्वर्ग देने वाला कहा गया है। अयोध्या के राजा रघु ने अपनी इहलीला

वहीं समाप्त की थी। हज़ारों वर्षों बाद वहीं बाबर ने अपनी तोपों की गड़गड़ाहट से बंगाल के पटानों में डर भर दिया था।

आगे मेरा प्रवाह ठीक पूर्व की ओर हो गया है और कुछ मील के उतार पर सोन की धारा भी मुझसे आ मिली है। अमरकण्टक के पहाड़ों की ओर से आती सोन की वह धारा बड़े महत्त्व की है। कोई नदी उसकी-सी चौड़ी नहीं। उसी के तट पर कभी 'कादम्बरी' का लेखक बाणभट्ट रहा था। उसी धारा के मुझसे मिलकर संगम बनाने से जो चमत्कार हुआ, उसकी जोड़ का कोई दूसरा नहीं। वह चमत्कार पाटलिपुत्र नगर था, जो आज भी बिहार की राजधानी पटना के नाम से प्रसिद्ध है।

सोन और मेरी धारा के कोने में, बुद्ध के कुछ ही बाद पाटलिपुत्र बसा और धीरे-धीरे उसने मगध की राजधानी के रूप में भारत के पहले ऐतिहासिक साम्राज्य का यश पाया। राजगृह के उदायी ने उसकी नींव डाली, उन पाटल या गुलाब के लाल फूलों के बीच जिन्होंने बुद्ध के पैरों की धूल कभी सिर पर उठाई थी। नन्दों ने अपनी उसी राजधानी से उठकर देश को क्षत्रिय राजाओं से हीन कर दिया था। उसी पाटलिपुत्र के नन्दराज की शक्ति से डर कर सिकन्दर की सेना ने व्यास के पूर्व में बढ़ने से इन्कार कर दिया था। उसी पाटलिपुत्र में पाणिनि ने अपना व्याकरण लिखा, कात्यायन ने उस व्याकरण का सुधार किया, पतंजलि ने उस पर अपना महाभाष्य लिखा, अपने योगसूत्र लिखे, चाणक्य ने वहीं अपना 'अर्थशास्त्र' लिखा। पाणिनि पठानों के देश से आया था, चाणक्य पश्चिमी पंजाब से, पतंजलि गोंडे से। उनके स्नान का स्पर्श मेरी महिमा को और भी महान बना देता है।

मैंने चाणक्य को नन्द पर क्रोध कर अपनी शिखा खोल, उसके सर्वनाश की प्रतिज्ञा करते हुए सुना, फिर उस महानीतिज्ञ ब्राह्मण की मेधा से महान नन्दवंश को जड़ से उखड़ते देखा। मौर्यवंश को स्थापित होते देखा तथा चाणक्य और अमात्य राक्षस के दाँव-पेंच देखे। महामना अशोक ने पहली बार इतिहास में जो जीवहिंसा को गैरकानूनी घोषित किया था, उसकी याद भी मुझे नहीं भूली और न उसके सन्देश ही

भूले जिनका भाईचारा आज भी राजनीति के लिए आदर्श है। मेरी धारा उस अशोक के स्पर्श से स्वयं पवित्र हुई थी।

और एक दिन ग्रीक राजा दिमित जो आया तो पाटिलपुत्र के परकोटे ज़मीन में मिल गए। उसके भवनों के कलश-कँगूरे मैंने सोन की धारा में गिरते देखे, रक्त से अपनी धारा को लाल होते देखा। शक आए और उस नगर को उन्होंने नर-विहीन कर दिया और तब एक दिन पुष्यमित्र शुंग ने महर्षि पतंजलि की सहायता से मौर्यवंश का अन्त कर दिया। मेरे तट पर यज्ञ, तप आदि बन्द हो गए थे, फिर एक बार उनकी परम्परा जगी और मैं सतवन्ती हुई।

मेरे ही तट पर अश्वघोष जैसे पंडित भिक्षु ने अपने काव्य लिखे, अपने दर्शन गुने। मेरे ही तट पर उससे पहले सेल्यूकस के राजदूत मेगास्थनीज़ ने भारत के विषय में अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'इण्डिका' लिखी,

मेगास्थनीज़

और मेरे ही तट के साथ हुमायूँ चौसा की ओर बढ़ा था। आगे बंगाल है, राजमहल की पहाड़ियों के आगे, जहाँ की भूमि मेरे स्पर्श से और उपजाऊ हो गई है, जहाँ फिरंगियों की शक्ति केन्द्रित हुई। मेरे ही किनारे प्रसिद्ध नगर कोलकाता बसा है जिसकी अपनी ही कहानी कुछ कम लम्बी नहीं है। कुछ काल वह भी भारत की राजधानी रहा था। दिल्ली ने शक्ति उसके हाथ से छीन ली, पर धन और व्यापार से, आबादी और विशालता से, आज भी उसका बड़प्पन जैसा का तैसा बना है। वहाँ मेरे दोनों किनारे आबाद हो गए हैं–एक ओर कोलकाता बसा है, दूसरी ओर हावड़ा और वहीं मेरा नाम गंगा से बदलकर हुगली हो जाता है। आरम्भ में मैं भागीरथी हूँ, अन्त में हुगली।

आगे गंगा-सागर है, जहाँ सागर का जल मेरे ही नाम से सार्थक हुआ है। वहाँ मेरी धारा अनेक धाराओं में बँट जाती है और प्रधान धारा पद्मा कहलाती है। ब्रह्मपुत्र भी वहीं मुझसे आ मिलती है और उसकी और मेरी धाराएँ मिल कर एक डेल्टा बनाती हैं जिस पर सुन्दरबन नाम का सैकड़ों मील लम्बा-चौड़ा दलदली जंगल खड़ा है, और जिस में मगरमच्छ, अजगर और बंगाल के मशहूर टाइगर रहते हैं। उसी दलदल में कभी सुह्मों का राज्य था जिन्होंने लड़ने के लिए इस देश में पहली बार जहाज़ी बेड़ा बनाया। कालिदास ने रघु द्वारा जिन सुह्मों को हराकर विजय के खम्भे खड़े करने की बात लिखी है, वे इसी भूमि के निवासी थे।

कहानी मेरी लम्बी है–इतनी, जितनी लम्बी मेरी धारा है और मैंने जो अभी कहा है, वह उस कहानी की सूची-भर है, संकेत-मात्र। जब मैं अपने इतिहास पर गौर करती हूँ तब अत्यन्त प्राचीन काल से राज्यों को उठते और गिरते देखती हूँ। और जब यह सोचती हूँ कि अगर मैं न होती तो इस मध्य देश का क्या होता–तो मेरी आँखों के आगे राजस्थान का रेगिस्तान छा जाता है, समुद्र से समुद्र तक।

मुझे श्रद्धालुओं ने पवित्र कहा है, मुझे उन्होंने निरन्तर पूजा है, बलि चढ़ाई है, पर मैं इससे मनुष्य की महिमा को घटाकर नहीं देखती,

नदी किनारे तर्पण

क्योंकि मैं जानती हूँ कि मेरी महिमा का सबसे बड़ा कारण उन जातियों की मेहनत थी, जो मेरे तट पर बसीं और जिन्होंने मेरी सींची धरती में अन्न उपजाए।

यमुना

गंगा के पश्चिम, थोड़ी ही दूर हिमालय की यमुनोत्री से मैं निकली हूँ और करीब आठ सौ मील चलकर प्रयाग में गंगा में समा गई हूँ। गंगा के साथ एक ओर, तथा सतलुज के साथ दूसरी ओर मैंने दोआब बनाया है जिसकी भूमि में वीरकर्मा जातियाँ बसती आई हैं और इतिहास सदी-सदी अपनी ईंट जोड़ता आया है।

उचित तो यह था कि मेरी कहानी भी गंगा ही कहती जिसकी कुछ लोग मुझे भुजा-मात्र समझते हैं, पर गंगा ने ऐसा जो नहीं किया, उसका कुछ अर्थ है। उसका अर्थ है कि मैं गंगा की भुजा-मात्र नहीं हूँ। मैंने अपनी राह आप बनाई है, मेरी धारा किसी धारा से कम पवित्र नहीं है। गंगा और सरस्वती के साथ, सिन्धु और सतलुज के साथ मेरे नाम की महिमा भी वेदों ने गाई है। मेरे तट पर भी महापुरुषों ने उत्तम कर्म किए हैं, मेरी धारा में भी महात्माओं की चरण-रज मिली है।

फिर सुनिए मेरी कहानी। मेरी स्वच्छ नीलधारा कलिन्द के पहाड़ों में यमुनोत्री नामक स्थान से निकलकर जहाँ समतल भूमि पर उतरी है, वहाँ की पृथ्वी मुझे पाकर धन्य हो गई है। मैं भारत की प्राचीन और नवीन राजधानी दिल्ली से सटकर बहती हूँ। मेरे ही तट पर कभी तोमर आ खड़े हुए थे, मेरे ही तट पर दस बार दिल्ली बन-बनकर बिगड़ी, बिगड़-बिगड़कर बनी।

पहले जब उसकी नींव पड़ी तब उसके आसपास खाँडवप्रस्थ का जंगल था, मेरी धारा से लगा-लगा। जब दुर्योधन ने पांडवों को हस्तिनापुर छोड़ने के लिए मजबूर कर दिया, तब उन्होंने मेरे तीर के घने जंगल साफ करवाए और इन्द्रप्रस्थ की नींव डाली, जिसकी छाया में मेरे ही

तट पर आज की दिल्ली खड़ी हुई। पांडवों के बाद फिर मेरा यह तट वीरान हो गया, क्योंकि अर्जुन के धेवते परीक्षित ने फिर हस्तिनापुर को अपनाया और वहाँ गंगा के तीर पर अपने यश का विस्तार करना शुरू किया।

मेरी धारा का जल ढलता गया, सदियाँ बीतती गईं और मेरे दोनों तीर वैसे ही जंगलों से ढँक गए जैसे कभी इन्द्रप्रस्थ बनने के पहले ढँके थे। तोमरों की दिल्ली कुछ काल पहले बस चुकी थी और उस पर गंगा तट के कन्नौज के प्रतीहारों का राज्य था। तभी तोमरों के कमज़ोर हाथों से अजमेर के बीसलदेव ने दिल्ली छीन ली।

अजमेर और साँभर से उठकर चौहान की राजलक्ष्मी मेरे तट पर ही इस दिल्ली में आ बसी और गंगा तीर के कन्नौज और मेरे तीर की दिल्ली में शक्ति की होड़ लग गई। पाटलिपुत्र से एक ज़माने से जो साम्राज्य की शक्ति कन्नौज में आ बसी थी और एक के बाद एक जो प्रसिद्ध राजकुल वहाँ हुकूमत करने लगे थे, तो सचमुच ही कन्नौज का भारत की राजधानी होने का दावा सही था, पर जैसे उठती जवानी अपने सामने किसी को कुछ नहीं गिनती, वैसे ही दिल्ली ने भी उस चिरप्रतिष्ठित नगरी को संघर्ष के लिए ललकारा। भाग्य से दिल्ली का राजा तब रायपिथौरा था जिसके दिल में यदि अनन्त प्यार था तो तलवार पकड़नेवाली मुट्ठी में गज़ब की शक्ति भी थी।

वह पृथ्वीराज जितना ही बाँका, लड़ाका था, उतना ही प्रेम के मैदान में भी जाना हुआ था। उसकी अनेक लड़ाइयाँ तो स्त्री प्राप्त करने के लिए ही लड़ी गई थीं। मेरे तीर का नगर स्वयं उससे डरा रहता था, क्योंकि उसके महलों में सुन्दरियों की कमी न थी और उन पर हाथ लगानेवाले पृथ्वीराज के हाथ भला कौन रोक सकता था! पृथ्वीराज का विनाश मुझे अब भी याद है, क्योंकि मेरे ही जल पर कितनी नावें संध्या की लालिमा में थिरका करती थीं, मेरा आसमान मृदंग के स्वरों में गूँजा करता था।

और एक दिन सारे नगर पर, मेरी लहरों तक पर सहसा डर छा

पृथ्वीराज और संयोगिता

गया। गोर के पठान सिन्ध लाँघ सरहिन्द की ओर चल पड़े थे। आसपास के सभी राजाओं की सेनाएँ उसकी राह रोकने पानीपत के मैदान में आ खड़ी हुईं पर पृथ्वीराज ने उस पर चोट की तो उसके कदम पानीपत के मैदान से उखड़कर सिन्ध-पार की ही ज़मीन पर टिके। गोरी फिर लौटा, परन्तु इस बीच हमारे आसपास की दुनिया बदल चुकी थी, गंगा-तीर के कन्नौज और मेरे तीर की दिल्ली में रण ठन गया था। दिल्ली कालिंजर और महोबा के चन्देलों को कुचल चुकी थी। कवि जगनिक की आवाज़ में पृथ्वीराज की वीरता गूँजने लगी थी, पर तभी पृथ्वीराज को जो सनक सूझी तो वह कन्नौज के जयचन्द की बेटी को ले भागा और जयचन्द उसके रक्त का प्यासा बन बैठा। भला कौन चुप रहे जिसकी बेटी छीन ली जाए? जयचन्द और पृथ्वीराज में जो घमासान छिड़ा उसमें हमारे नगर के अनेक योद्धा काम आए और पठानों से लोहा लेने के लिए कोई न बचा रहा। जब तलावड़ी के उसी मैदान

में, जिसमें गोरी ने चोट खाई थी, गोरी फिर आ उतरा। तब हिन्दू राजाओं के बीच उनका सिरमौर जयचन्द था। पिछली लड़ाई उसी की मदद से जीती गई थी, अब उसी के अभाव से पृथ्वीराज लड़ाई हार गया। हाथी से घोड़े पर कूद वह भागा, पर सरस्वती के किनारे उसे पकड़कर पठानों ने मार डाला। मैं बेआबरू हो गई। मुसलमान मेरी लहरों को लाँघ गए, नगर-नगर की मूर्तियाँ टूटकर मेरे जल में आ गिरीं। नगर पर चढ़ी गंगा की मूरतें, कछुए पर चढ़ी मेरी मूरतें, हज़ारों की तादाद में तोड़कर मेरी रेती में फैला दी गईं। नगर के महलों के कलश मेरी तलहटी में डूब गए।

पर गंगा का कन्नौज भी अछूता न बचा। अगले ही साल उस पर भी आक्रमण हुआ और यद्यपि मेरी दिल्ली फिर भी खड़ी रही, सदियों देश का इतिहास बनाती रही, पर हिन्दुस्तान की राजनीति में फिर कन्नौज का सिक्का न चला। हाँ, इतना ज़रूर हुआ कि मेरे भागते राजा की कायरता से जो मेरी बेकदरी हुई वह गंगा की न हुई, क्योंकि अस्सी साल के बूढ़े जयचन्द ने मेरी ही घाटी में इटावा के पास चन्दावर के मैदान में गोरी से अपने मुट्ठी-भर जवानों के साथ जो लोहा लिया उसे मेरी और बेतवा की लहर न भुला सकेगी, चाहे ज़माने ने उसे भुला दिया और ज़माने का इस तरह उस घटना को भुला देना इतिहास पर कृतघ्नता का एक बड़ा व्यंग्य बन गया है। जो बुढ़ापे में लड़ता हुआ वीरगति को प्राप्त हुआ, उसे तो ज़माने ने देशद्रोही कहके याद रखा और जो रण से भागता हुआ पकड़कर मार डाला गया, उसकी ज़माने ने वीरपूजा की! इसका एक कारण है–दिल्ली-दरबार का चारण कवि चन्दबरदाई। चन्दबरदाई ने मालिक के नमक का बदला चुकाया और मेरे ही तीर पर 'पृथ्वीराज-रासो' लिखकर पिथौरा को वीरता के क्षेत्र में अमर कर दिया, जयचन्द को देशद्रोह में। पर उन घटनाओं का राज़ मेरी लहरें जानती हैं।

मेरे तट की इस दिल्ली की कहानी लम्बी है, क्योंकि दस-दस बार उसकी बुनियाद पर बुनियाद रखी जाती रही है और मैं उसे देखती

रही हूँ। उसकी कहानी कहते थकूँगी नहीं, पर कहनी है मुझे अपनी कहानी, अपने बहाव की कहानी, और जो कहना है वह स्वयं कुछ साधारण नहीं है, क्योंकि उसमें मथुरा की कथा है, उसके कृष्ण की, उनकी गोपियों की, उसके कंस और कुषाणों की।

इन्द्र की मार से जब आर्यों के शत्रु भागे तो मथुरा के पास मेरे तट पर उनके पैर टिके। कृष्ण उनका नेता था। कृष्ण और इन्द्र में जो मरणान्तक लड़ाई छिड़ी, उसका इशारा ऋग्वेद ने भी किया है। कृष्ण ने इन्द्र का अन्त कर उस मथुरा में अपनी पूजा प्रतिष्ठित की, अपना भाव-राज्य चलाया। उस कृष्ण का महान चरित, उसकी क्रीड़ाएँ, विलास और नीति-कथाएँ कुछ अन्य पुराणों के अतिरिक्त श्रीमद्भागवत में तो भरी पड़ी हैं। हिन्दू संस्कृति का वह अलबेला नमूना, आनन्द और सौन्दर्य का वह अनुपम कन्हैया मेरे ही तीर पर खेला। मेरे ही तीर के जंगलों

कृष्ण-लीला

में उसने गायें चराई, वहीं उसने बार-बार अपनी कीर्ति-पताका फहराई। कंस के अत्याचार से दुःखी मथुरा की जनता को छुड़ाकर कृष्ण ने वहाँ सुख और सज्जनता की धारा बहाई।

उसी कृष्ण को—एक दिन जब अपने दामाद कंस का बदला लेने के लिए जरासन्ध मथुरा पर चढ़ आया—मेरा तट छोड़ दूर द्वारिका चले जाना पड़ा। कृष्ण फिर मथुरा न लौटा, उसकी क्रीड़ा से फिर मेरी लहरों में कम्पन नहीं आया। ऊधो आया, पर कन्हैया न आया और गोपियाँ बिलखती रहीं, दूत और पाती भेजती रहीं। गोपियों की पुकार, उनकी बेदम कराह आज भी मेरी ठंडी हवा में मिली हुई है। आज भी मुझे उनकी आकुलता अनेक बार व्याकुल कर देती है।

ज़माना बीतता गया, राज्य पर राज्य उजड़ते गए। तीनों लोकों से न्यारी मथुरा कृष्ण की याद में बिसूरती रही। मेरा बिसूरना किसी ने न देखा। जल की काया लिए जो बह रही है, उसकी आँखों के नीर का महत्त्व ही भला क्या? कुषाणों ने मेरे तट पर यहाँ स्तूप खड़े किए—उन्हें लाज-भरी, राग-भरी, हुलास-विलास-भरी नंगी मूर्तियों से घेर दिया, पर कृष्ण की गोपियाँ मेरी रज से फिर न उठीं। मेरी सतह पर कनिष्क के वंशज अपनी नावें लिए अनेक बार थिरके, पर रास की याद भला उससे कहाँ भूल सकती थी! और एक दिन भारशिव नागों ने मथुरा कुषाणों के हाथ से छीन ली।

ज़माने फिर बदल गए, कितने राजवंश आए और गए, मैं शान्तचित्त देखती, बहती रही। पिछले काल कृष्ण के भक्तों ने नए राग गाए। मीरा और सूर के पद

सूरदास

मेरे कानों में भर चले। सूर के उन पदों-सा मधुर कुछ भी नहीं!

मथुरा से कुछ ही किलोमीटर आगे विश्व के आश्चर्यों में से एक, ताजमहल का नगर आगरा है जिसे मुगल बादशाहों ने बसाया और जहाँ रहकर वर्षों तक हिन्दुस्तान पर राज किया। ताजमहल सफेद संगमरमर का बना मेरे ही तट पर जगमगाते हीरे-सा खड़ा है जिसे देखने दुनिया भर के स्त्री-पुरुष बहुत बड़ी संख्या में आते हैं। यह शाहजहाँ की बीवी मुमताजमहल के लिए उसके प्रेम का प्रतीक है।

आगे, दूर आगे कौशाम्बी है। कौशाम्बी तो मिट चुकी, उसके खण्डहर-मात्र मेरे तट पर कोसम में खड़े मुझे और पास से निकलनेवाले पथिकों को पुरानी कथा की याद दिलाते हैं। अगर मथुरा की रौनक, उसके भाव-विलास किसी नगरी को मिले तो बस कौशाम्बी को। कौशाम्बी की याद से मन पुलक उठता है, रोम-रोम में स्वेद उतर आता है क्योंकि वह उदयन की नगरी थी, और लगा था कि जैसे कृष्ण ने ही उदयन के रूप में फिर मेरे तट पर जन्म ले लिया हो।

कौशाम्बी का राजकुल वत्सों का था और वत्सों की सत्ता पश्चिम के पंचालों के देश में प्रयाग और काशी तक कभी फैली हुई थी। जब जनमेजय और उसके पुरखों के हस्तिनापुर को गंगा की बड़ी लहरों ने निगल लिया, तब पाँडवों का वंशज निचक्षु पूर्व की ओर बढ़ा और उसने यहीं मेरे रम्य तट पर अपना डेरा डाला। कौशाम्बी उसी ने बनाई और अपनी भुजाओं की शक्ति से जीते देश की राजधानी इसी कौशाम्बी में स्थापित की। पीढ़ियों बाद उसके कुल में वह विलासी हुआ, जिसने प्रेम के साहित्य में अपना साका चलाया, जिसके चरित की कथाओं से संस्कृत का पिछला साहित्य भरा पड़ा है, जिसके प्यार की कहानियाँ मूर्तियों और चित्रों में उतरीं, रूप धारण कर घर-घर मिट्टी के खिलौनों में बसीं। उस उदयन के विलास को मैंने अभितृप्त नयनों से निहारा। आज भी उसकी तन्त्री 'घोषा' के स्वर मेरे कानों में भरे हैं, आज भी मेरे जंगलों में हाथी पकड़ने वाले उस उदयन की 'हस्तिकान्त' वीणा मानो हाथियों को आकर्षित करने के लिए जब-तब बज उठती है और

मेरे आकुल कान देर तक उस अमृत-स्वर की आस में खुले खड़े रहते हैं।

कितनी ही बार अवन्ती का चण्ड-प्रद्योत इस नगरी पर चढ़ आया था। एक बार तो मेरी ही सीमा के जंगलों में उसने उदयन को हाथी के धोखे से पकड़ भी लिया, पर उदयन ने भी वह किया, जिसकी याद कौशाम्बी की रज का उल्लास है। प्रद्योत की बेटी वासवदत्ता उस पर रीझ गई। उसके पिता ने उदयन को उसे वीणा सिखाने को नियत किया और एक दिन दोनों हाथी पर सवार वनों को चीरते मेरे तीर पर अपनी कौशाम्बी में आ पहुँचे। कौशाम्बी का सुहाग लौटा।

बुद्ध ने कितनी ही बार कौशाम्बी को अपने चरणों से पवित्र किया था, उसकी हवा की साँस में अपने उपदेश भरे थे। उदयन का बेटा बोधी बुद्ध का परम भक्त था। आज भी घोषिताराम विहार की नींव में वह शान्ति समाई हुई है जिसे बुद्ध ने दोनों हाथों वहाँ लुटाया था। दिल्ली आज भी है, मथुरा भी है, पर वत्सों की शक्ति की नींव, उदयन की सँवारी हुई विलासिनी कौशाम्बी न रही। उसके खंडहर और परकोटे मेरे तट पर दूर तक फैले चले गए हैं, अपनी ईंट-ईंट में इतिहास भरे, कण-कण में सदियों के भेद छिपाए।

इसी कौशाम्बी के पास नाग राजाओं ने एक बार मिलकर समुद्रगुप्त के घोड़ों की बाग रोकनी चाही थी और तब जो समर छिड़ा था उससे मेरी धारा लहू से लाल हो उठी थी। मेरे ही तीर पर कौशाम्बी के आँचल में कभी अशोक ने अपनी शान्ति के स्तम्भ खड़े किए थे। उनमें से एक आज भी वहाँ खड़ा है, पर दूसरा वहाँ से उठकर प्रयाग चला गया है और उस पर अशोक के शान्ति-सन्देश के नीचे समुद्रगुप्त के रक्त-भरे कारनामे अंकित हैं।

मेरे ही तट पर राजापुर है जो राम-कथा लिखनेवाले तुलसीदास के स्पर्श से कभी पावन हुआ था। गोस्वामी ने वहीं अपने 'मानस' के पन्ने लिखने शुरू किए थे। उस राजापुर के तीर की मिट्टी मेरी धारा से खोखली हो चली है, पर उसे बचाने में किसी का वश नहीं चलता,

खुद मेरा भी नहीं। मुझ अनायास बहनेवाली, ढलाव पर लुढ़क पड़नेवाली नदी का सचमुच वश ही क्या है?

आगे प्रयाग है, मेरी विलय की भूमि, अन्त की भूमि। वहीं करीब आठ सौ मील चलकर मैं अपना आपा खो देती हूँ। गंगा की श्वेत धारा से मेरी स्वच्छ नील धारा जा मिलती है। अनेक बार साहित्य में इन दोनों नील-श्वेत धाराओं के परस्पर गुँथे होने की बात कही गई है। बार-बार कवियों ने उस सौन्दर्य के गीत गाए हैं, बार-बार उनके बखान से मैं पुलक उठती हूँ।

और, मैं सदा के लिए आगे को बह चलने वाली गंगा की धारा में समा जाती हूँ। मेरा निर्मल जल अपना रूप सहसा खो देता है। युग-युग की लाई विभूति, महात्माओं की बहाकर लाई मिट्टी, सब मैं गंगा की धारा में विसर्जित कर देती हूँ। सदियों का इतिहास मेरी लहरों में छिपा है और मेरी लहरें वह इतिहास लिए गंगा की लहरों में जा छिपती हैं।

नर्मदा

मैं अमरकण्टक की पहाड़ी गाँठ से निकलती हूँ और भारत के इस सुन्दर प्रदेश को ठीक बीच से बाँट देती हूँ। मेरे एक ओर विन्ध्याचल है, दूसरी ओर सतपुड़ा और दोनों के बीच चट्टानें तोड़ती तेज़ी से मैं पश्चिमी सागर तक दौड़ती चली जाती हूँ। अनेक बार मैं पहाड़ की चोटी से गिरती भयानक प्रपात बनाती हूँ, अनेक बार पहाड़ी भूमि की गहराइयों में खो जाती हूँ, अनेक बार जामुन के पेड़ों के बीच फैली हुई बहती हूँ। मेरा इतिहास पुराना है, मेरी घाटी में सभ्यताओं ने समाधि ली है।

भारत के आदि मानव ने मेरे तीर के पहाड़ों में अपने चिह्न छोड़े हैं। जब उत्तर का भारत जल में डूबा हुआ था, तब भी मुझसे लगी दक्षिण की भूमि सूखी थी। धीरे-धीरे मेरे ही तट पर नई सभ्यता जगी, नई प्रजा फली-फूली, नई जातियाँ आईं और गईं।

याद है मुझे हैहयों का वह साम्राज्य जिसकी हदें उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम दूर तक चारों ओर फैली थीं। मेरे जल में हज़ार हाथोंवाला विकट वीर कार्तवीर्य अर्जुन वर्षों विहार करता रहा था। अपने हाथों से वह गरजती हुई धाराओं को सहसा रोक लेता था तो मैं मंतर-मारे साँप की तरह विवश हो बँध जाती और मेरे प्रशान्त जल में उसकी रानियाँ केलि करतीं। उसने शिव के साथ कैलास को उठाकर उसके जोड-जोड़ हिला देने वाले रावण को महीनों अपने कारागार में कैद रखा था। इक्कीस बार पृथ्वी को क्षत्रियों से शून्य करनेवाले परशुराम ने जब हैहय नरेश के हाथ अपने फरसे से काट डाले, तब मेरा जल सहस्रबाहु के रक्त और करों से ढँक गया था और मेरे तीर का राजमहल रानियों

के चीत्कार से गूँज उठा था।

रघु के बेटे अज ने इन्दुमती के स्वयंवर में भोज की नगरी को जाते-आते मेरी धारा लाँघी थी और मेरे ही तट पर उस स्वयंवर जीतनेवाले महारथी की राह रोक, हारे हुए राजाओं ने इन्दुमती को उससे छीन लेना चाहा था; पर अज ने जैसे स्वयंवर जीता था, वैसे ही उन राजाओं को जीता।

मेरी ही राह कृष्ण ने जाकर उसी नगरी से शिशुपाल की मंगेतर

रुक्मिणी-हरण

रुक्मिणी को हर लिया था। मेरी ही राह उत्तर से दक्षिण और दक्षिण से उत्तर जानेवाली विजयी सेनाएँ आती-जाती थीं। अनेक युद्ध मेरे तट पर हुए, अनेक राजाओं का वारा-न्यारा मेरी तटवर्ती भूमि पर हुआ।

पिछले काल में समुद्रगुप्त की विजयवाहिनी ने जब मुझे लाँघने का प्रयत्न किया था, तब हाल के आए अहीरों के पंचायती राज ने

उसका खुलकर सामना किया था। अहीरों ने अनन्त बलिदान दिए पर उस विजेता के घोड़ों का वेग वे रोक न सके; उन्हें मजबूर होकर आत्मसमर्पण करना पड़ा। समुद्रगुप्त के पोते कुमारगुप्त के समय अपनी जनशक्ति बढ़ाकर मेरे तट के एक दूसरे पंचायती राज पुष्यमित्रों ने स्वतन्त्रता का ऐलान किया। अब तक मैं शकों के हाथ से निकलकर गुप्तों की छाया में जा चुकी थी और यद्यपि विलासी कुमारगुप्त अपने जीवन के अन्तिम क्षण गिन रहा था, उसके वीरकर्मी बेटे स्कन्दगुप्त ने पुष्यमित्रों के जगे विद्रोह का पासा पलट दिया। पुष्यमित्र हार गए और मेरे तटवर्ती प्रदेश गुप्तों के साम्राज्य में बने रहे।

शकों का बढ़ता हुआ आतंक मैंने देखा था; वाकाटकों और भारशिवों की तलवारों की चमक मैंने देखी थी; अहीरों और पुष्यमित्रों
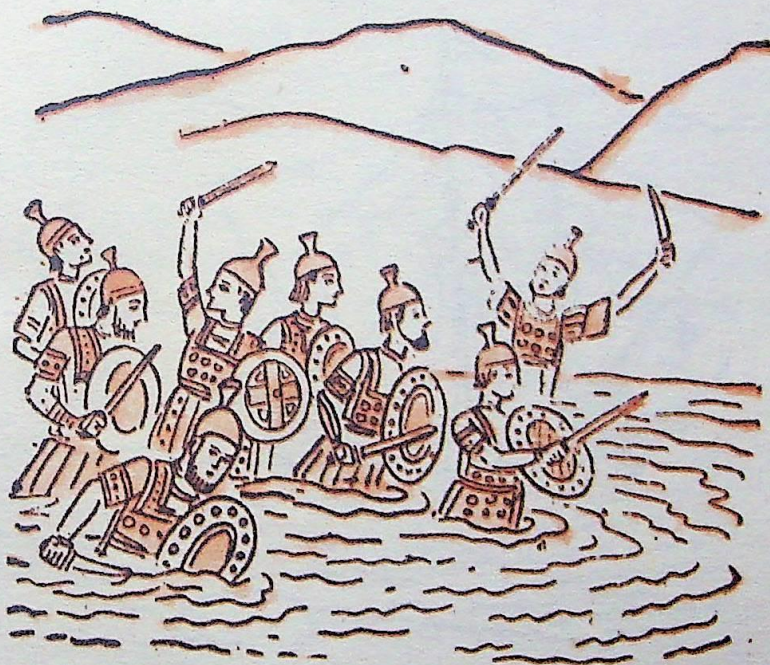
नर्मदा-तट पर एक युद्ध

के पैरों की धमक मैंने सुनी थी और अब मैंने गुप्तों के सूरज को पंजाब और मालवा की ओर से बढ़ते हुए हूणों के पीछे डूबते देखा। यशोवर्मा ने मुझसे थोड़ी ही दूरी पर हूणों को परास्त किया और मालवा के नए गुप्तों ने फिर मुझ पर अधिकार कर लिया। पर मगध और मालवा में अन्तर था, जैसे पुराने और नए गुप्तों में अन्तर था।

सातवीं सदी में मेरी धारा उत्तरापथ और दक्षिण पथ के बीच की सीमा हुई। उत्तर में हर्षवर्धन प्रबल था, दक्षिण में पुलकेशी। एक दिन हर्षवर्धन ने मेरी धारा लाँघने की हिम्मत की और चालुक्य नरेश पुलकेशी ने तलवार से उसकी राह रोक दी। मेरे देखते ही देखते मेरी ही जमीन पर जो संघर्ष हुआ, उसमें हर्षवर्धन के हाथियों के अंग रणभूमि पर बिखर
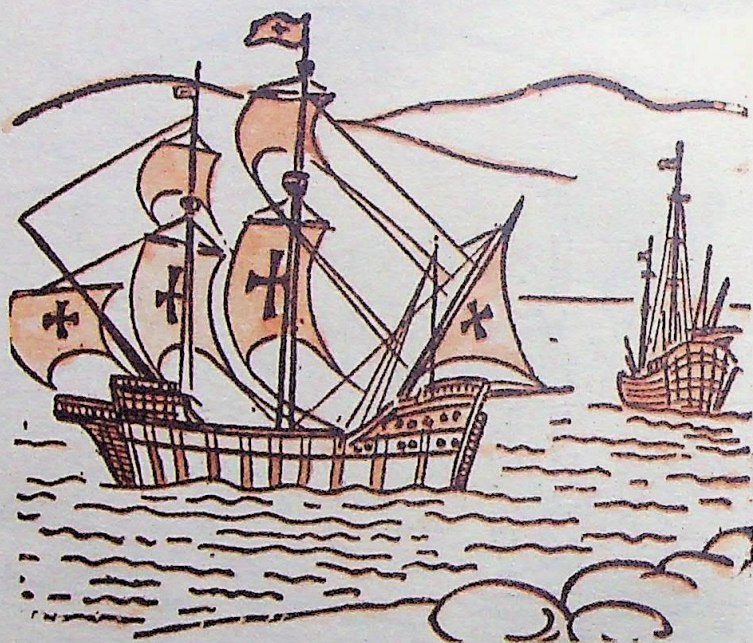
जल में तैरते जलपोत

गए। हर्षवर्धन लौटा और मेरी धारा फिर उत्तर-दक्षिण की सीमा बनी।

राष्ट्रकूटों और चोलों तक की शक्ति मैंने जानी है, परमारों के साये में तो मैं एक ज़माने तक रह चुकी हूँ। मुंज और भोज दोनों ने मुझे भोगा है, पर अपनी शक्ति का केन्द्र मुझे त्रिपुरी के कलचुरियों ने बनाया, जब चारों ओर के प्रदेश उनकी तलवार के वशीभूत हो गए। मेरी घाटी से उठकर उन्होंने प्रयाग और काशी की गंगा में अपने घोड़े नहलाए।

जबलपुर के पास संगमरमर की चट्टानों से लगा मेरा दृश्य अत्यन्त मनोहारी है। चमकती चट्टानों से मेरा गहरा हरा जल नीचे के खड्ड में सहसा गिर पड़ता है और मैं अतल की गहराइयों में खो जाती हूँ। सदियों से प्रकृति के पुजारी मेरे उस रूप को देखने आते रहे हैं, और मेरे उस वैभव को उन्होंने निहार-निहार देखा है।

खम्भात की खाड़ी मेरे प्रवाह को अपने अनन्त जल में ले लेती है। पास ही भड़ोंच है, जहाँ हज़ारों साल से विदेशी माँझी और सौदागर आते रहे हैं। वहाँ जहाज़ों से बार-बार उतरते तिजारती माल को मैंने देखा है; दासों और दासियाँ को; धातु और सिक्कों को। उस माल का एक बड़ा भाग मेरी ही राह पूरब की ओर जाता रहा है।

थोड़े में, यही मेरी कहानी है। घटती हुई घटनाओं को मैंने ईमानदार साक्षी की तरह देखा, उनकी कहानी भी मैंने ईमानदार साक्षी की तरह कही है।

ब्रह्मपुत्र

मैं नदी नहीं, नद हूँ। सभी नदियाँ स्त्रीलिंग हैं, मैं पुल्लिंग। भारत की पवित्र औरं महान नदियों में मेरी गणना है। इसके प्रदेश असम की तो मैं जीवन-रेखा ही हूँ। मेरे बिना असम की कल्पना भी नहीं की जा सकती। विशाल पाट है मेरा जो वर्षा-ऋतु में इतना जलपूरित हो उठता है कि वह सामान्यतः अलंघ्य बन जाता है। उस समय मेरे वक्ष पर बड़े-बड़े जलपोत चलते हैं तो छोटी डोंगियाँ भी। पतली-सी लकड़ियों को काटकर उनके पतले पेट में एक-दो लोग बैठ लेते हैं। धार पर उलटती-पलटती ये पतली नावें सवारियों को डूबने नहीं देतीं। अद्‌भुत दृश्य होता है यह जब ये डोंगियाँ और उन पर बैठे सवार मेरी लहरों से अठखेलियाँ करते हुए मेरी बीच धार तक चले जाते हैं।

मछुआरे उनकी सहायता से मछली तक मारते हैं। नाविक सवारियों को इस पार से उस पार भी कर देते हैं इन नन्हीं नावों के ही सहारे। बाढ़ के दिनों में बड़ी नावें और जलपोत व्यक्तियों और सामानों को इस तट से उस तट तक तो ढोते ही हैं–तब जल-मार्ग भी बन जाती हूँ मैं–व्यापार का साधन। अपने पेट में विभिन्न प्रकार के सामान भरे जलपोत मेरे तटों को प्रायः स्पर्श करते हुए दूर-दूर तक चले जाते हैं।

सचमुच नद हूँ मैं, एक छोटा-मोटा सागर ही हूँ। जैसे समुद्र में द्वीप बन जाते हैं, इसी तरह मेरे अन्दर भी कई द्वीप निर्मित हो गए हैं जिन पर लोग बस गए हैं, अपनी झोपड़ियाँ बनाकर, कभी-कभी अट्टालिकाएँ भी बना कर। खासे ऊँचे होते हैं ये जो वर्षा-ऋतु में भी नहीं डूबते। मैं इनके अगल-बगल से बह जाता हूँ। ऊपर वर्णित डोंगियों

से ही द्वीपों के निवासी एक दूसरे से सम्पर्क बनाए रखते हैं–किनारों से भी। बाढ़ इन्हें घेर कर भी घेर नहीं पाती।

अपने उद्गम की कहानी तो कही नहीं मैंने। मैं तिब्बत होते हुए भारत में आती हूँ। तिब्बत में मेरा नाम है 'सांतापो।' बहुत कठिन है मेरी यात्रा। तिब्बत और भारत के मध्य की मेरी जलधारा चट्टानों से पटी पड़ी है। किनारों के घोर जंगलों से घिरी है। अतः मेरे ऊपरी छोर पर कोई नौका से भी धार की विपरीत दिशा में बढ़ना चाहे तो मेरी चट्टानें नौका को चूर-चूर कर उस धृष्ट व्यक्ति को जलसमाधि दे देंगी।

कुछ कम नहीं है मेरी लम्बाई। मेरे विस्तार के अनुकूल ही है वह। 2880 किलोमीटर लम्बी हूँ मैं। असम में पूर्व से पश्चिम बहती हूँ मैं। फिर सहसा दक्षिण की ओर मुख करती हूँ और बंगाल में गंगा से जा मिलती हूँ। मेरे मिलन से गंगा का पाट और विस्तृत हो जाता है।

मेरे तट पर कई छोटे-बड़े नगर बसे। उनमें सभ्यताएँ पलीं। असम की राजधानी गुवाहाटी भी मेरे ही तीर पनपी। इसका प्राचीन नाम प्राग्ज्योतिषपुर था।

अक्सर विनाशकारी हो जाती हूँ मैं। मार्ग बदलना मेरी प्रिय आदत है। इस क्रम में कितने गाँव-नगर भी मेरी धारा की चपेट में आ अपना अस्तित्व खो बैठते हैं। किनारों की मिट्टी मुझे अति प्रिय है। उन्हें काटकर अपनी धारा में बहा ले जाती हूँ। किनारों के लोग सतर्क रहते हैं। बाढ़ के दिनों में मेरी बंकिम भंगिमा देखते ही वे जान-माल के साथ दूर चले जाते हैं। पर उनके धान उपजाने वाले खेत तो मेरे गर्भ में चले ही जाते हैं, तब बड़ी विपत्ति में पड़ते हैं वे। फिर भी मुझसे किसी को कोई शिकायत नहीं। अभिशाप नहीं अपितु वरदान के रूप में ही मानते हैं लोग मुझे, विशेषकर असमवासी। जितना लेती हूँ, उससे अधिक दे देती हूँ। बाढ़ के साथ आई मेरी मिट्टी बहुत उपजाऊ होती है। कूल-किनारों से जब बाढ़ का पानी उतरता है तो उन मिट्टी को छोड़

जाता है जिसकी उर्वरता कृषकों को धन-धान्य से भर देती है।

व्यापारियों की भी अति प्रिय हूँ मैं। पहले ही कहा, एक अच्छे-खासे जलमार्ग के रूप में मेरा प्रयोग होता है। दर्शकों के आश्चर्य का कारण हूँ मैं। जल-भरे दिनों में इस तट पर खड़ा व्यक्ति उस तट का शायद ही कुछ देख पाता है–तट को भी नहीं।

लोगों की श्रद्धा और आस्था का पात्र हूँ मैं। अपनी यदा-कदा की मनमानी के बावजूद लोगों के हृदय में बहुत सम्मान है मेरा। गंगा की तरह पवित्र नहीं भी होऊँ पर उसी की तरह पूजी जाती हूँ मैं–असम में। मैंने अपने यात्रा-क्रम में कभी अपने को पुल्लिंग तो कभी स्त्रीलिंग के रूप में प्रस्तुत किया है। यह अनायास नहीं है। कोई विडम्बना या विरोधाभास नहीं देखें इसमें। कहलाता तो मैं ब्रह्म नद ही हूँ पर यह बात मैं कैसे भूलूँ कि अन्ततः एक नदी ही हूँ मैं जो पहाड़ से निकलकर गंगा में विसर्जित होती है।

सोन

मैं भी ब्रह्मपुत्र की तरह नद की संज्ञा से ही विभूषित हूँ। यह मेरे विशाल पाट के कारण है। बरसाती दिनों में बड़ा भयंकर स्वरूप होता है मेरा। कई किलोमीटर तक फैल जाता है मेरे उदर का पानी। पानी का रूप भी क्या?–सुनहला। गंदला भी कुछ लोग कह सकते हैं उसे क्योंकि मेरे पानी का यह सुनहला रूप मुझमें बहती आ रही लाल मिट्टी के कारण ही होता है। मेरी बालुका-राशि अति शक्तिशालिनी होती है, इसीलिए भवन-निर्माण आदि में सोन की रेत सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है।

प्रसिद्ध तीर्थस्थल अमरकंटक मेरा उद्गम है। मेरे आरम्भिक स्वरूप को देखकर मेरी विशाल काया का अनुमान नहीं लगाया जा सकता। एक छोटे-से चहबच्चे से 'पेंसिल' के आकार में निकलती हूँ मैं। जैसे-जैसे आगे बढ़ती हूँ, असंख्य नदी-नाले मुझमें समाहित होते जाते हैं और मेरा उदर फैलता चला जाता है।

पहले अपने उद्गम-स्थल अमरकंटक के सम्बन्ध में कुछ कह लूँ। मुझे गर्व है कि अमरकंटक के सदृश पुनीत पर्वत से मेरा प्राकट्य हुआ। अमरकंटक 3500 फीट ऊँचा है। यह 22.41° अक्षांश उत्तर और 82.7° देशान्तर पर अवस्थित है। अमरकंटक में शिव का मन्दिर है जो इसी नाम अर्थात् अमरकंटक से विख्यात है। मेरा यह उद्गम पुराणों की दृष्टि से भी नहीं छिपा। पुराणों में ब्रह्मांड-पुराण की महिमा अधिक है। यह पुराण इस अमरकंटक को तीनों लोकों में एक श्रेष्ठ पुण्यस्थल मानता है और सिद्धों-तपस्वियों से सेवित बतलाता है। उसी के अनुसार

यहाँ ऋषि अंगिरा ने कई सहस्र, अपितु कई अरब वर्षों तक तपस्या की थी। इस पुराण ने उसे 'नगोत्तम' (अर्थात् पहाड़ों में उत्तम) की संज्ञा दी है।

मत्स्य पुराण ने तो यहाँ तक कह दिया है कि अमरकंटक पर स्नान का फल कुरुक्षेत्र में स्नान से सौगुना अधिक है। अमरकंटक के अत्यन्त पुनीत होने के कारण ही यहाँ पूरे एक माह का मेला लगता है—माघ शुक्ल त्रयोदशी से फाल्गुन शुक्ल त्रयोदशी तक।

ज्ञात ही है कि नर्मदा का उद्गम-स्थल भी यही है, अतः नर्मदा मेरी बड़ी बहन है। आकार में नहीं, उसकी अधिक पुनीतता के कारण। इसके तट पर कई तीर्थ बसे हैं जिनमें ओंकालेश्वर सर्वश्रेष्ठ है। द्वादश ज्योतिर्लिंगों में एक ओंकालेश्वर महादेव भी हैं। यहीं ओंकालेश्वर मन्दिर के पास ऋषि संदीपन का आश्रम अब भी विद्यमान है। यह ऋषि, भगवान श्रीकृष्ण के भी विद्यागुरु थे।

मेरी बड़ी बहन जहाँ से निकलती है, वहाँ अमरकंटक-शिव के मन्दिर होने की बात मैं कह चुकी हूँ। महादेव के आधुनिक मन्दिर का निर्माण होल्कर महाराज ने किया था। वह 1886 ई. का काल था। मेरी सखी के उद्गम-स्थल के पास कोई तीन दर्जन मन्दिर हैं जो अब अपनी अन्तिम साँसें ले रहे हैं। इनमें कर्ण-मन्दिर अक्षुण्ण है जो सभी मन्दिरों से बड़ा और टिकाऊ है।

नर्मदा और अमरकंटक का वर्णन विस्तार से इसलिए करना पड़ा क्योंकि जहाँ से मेरी प्यारी सखी निकलती है, वहीं से थोड़ी दूर उत्तर में मेरी एक सहायिका नदी भी निकलती है, जिसे ज्योतिरथ्या का नाम प्राप्त है। ज्योतिरथ्या जब मुझमें मिलती है तब तक इसका प्रवाह भी पुष्ट हुआ रहता है। तब तक मेरा पाट भी कई नदी-नालों के जल को ग्रहण करने से काफी विस्तृत हो गया होता है, अतः प्रबल वेग से मुझमें प्रवेश करने में इसे कोई कठिनाई नहीं होती। ज्योतिरथ्या को अपभ्रंश में जोहिला भी कहते हैं। पुराणों ने इसे सुरथा नाम भी दिया है। उसका जहाँ मुझसे संगम होता है महाभारत के वनपर्व में इसे अत्यन्त

पुनीत तीर्थ माना गया है तथा इसे देवों और पितरों के तर्पण के लिए उचित स्थान बताया गया है।

ज्योतिरथ्या या जोहिला के जल को ग्रहण करने के पश्चात् ही मैं नदी से नद बनती हूँ। ज्योतिरथ्या पर्याप्त दूरी तय कर मुझमें लीन होती है, तब तक इसमें जल का अपार भंडार संचित हो गया होता है।

एक दूसरी महत्त्वपूर्ण नदी जो मेरे उदर के आकार को बढ़ाती है, वह है महानदी। जब महानदी का जल मुझमें विसर्जित होता है, तब तक मैं अमरकंटक से 221 किलोमीटर की यात्रा तय कर चुकी होती हूँ। मेरी यह सहायक नदी पश्चिम दिशा से आकर मुझमें विसर्जित होती है। इसके पश्चात् मैं अपने दीर्घाकार रूप में पूर्वोत्तर की ओर बह चलती हूँ और कैमूर पर्वत-माला के दक्षिणी पाद-प्रदेश को स्पर्श करती आगे बढ़ने लगती हूँ।

इसके बाद मेरी प्रमुख सहायक नदी बनास है। यह नदी बरेला नामक एक ग्राम के पड़ोस के पहाड़ी जंगली प्रदेश से निकलती है और रीवां राज्य में आती है। इसके पश्चात् पर्वतीय भाग से प्रभावित हो यह उत्तरवाहिनी हो जाती है और कुछ दूरी तय करने के पश्चात् मुझमें विलीन हो जाती है।

इसके बाद की मेरी सहायक नदियाँ हैं, गोमत (मध्यप्रदेश) और रिहन्द (उत्तर प्रदेश)। रिहन्द का एक नाम रेणु भी है। यह बनास और गोमत, जिनका उल्लेख ऊपर आया है, से भी बड़ी है। उसका कारण है कि उसकी अपनी ही दो बड़ी सहायक नदियाँ हैं–महान और योरने। ये रिहन्द अथवा रेणु या रेंड़ (सुरगुज़ा ज़िले में उसका नाम) के दाहिने भाग में इसमें मिलती हैं। रिहन्द पर अब तक दो बराज बन चुके हैं। एक है 'रिहन्द प्रोजेक्ट' और दूसरा है 'ओबरा डैम'। इन बराजों के बन जाने से रिहन्द मुझ में पहले की अपेक्षा कम पानी उड़ेलती है। यही कारण है कि गर्मी के दिनों में मैं क्षीणकाय बन जाती हूँ। पटना के कोइलवर तक आते-आते मैं जल-भरे नद के बदले, गर्मियों में एक

विशाल मरुभूमि ही बन जाती हूँ। इसका एक कारण यह भी है कि बिहार के 'डेहरी ऑन सोन' में मुझ पर ब्रिटिश शासन काल में ही एक बड़ा बराज बना जिससे कई नहरें और उपनहरें निकलीं जिन्होंने तब के शाहाबाद (अब भोजपुर + बक्सर + रोहतास + कैमूर) और गया (अब गया + औरंगाबाद) की मिट्टी को इतनी उर्वरा बना दिया कि यह क्षेत्र धान की उपज के लिए पूरे देश में विख्यात हुआ।

पटना से कुछ ऊपर गंगा से मेरा संगम हुआ। इस मध्य मैंने तीन राज्यों–मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश तथा बिहार–के कभी ऊबड़-खाबड़ जंगली-पर्वतीय तथा कभी समतल भागों से अपनी यात्रा पूर्ण की।

आरम्भ में मैंने ब्रह्मपुत्र की बात की है–उसके विस्तृत पाट की, पर जानने वाले जानते हैं कि मेरे पाट की तुलना गंगा और सिन्धु के अतिरिक्त किसी और नदी से नहीं की जा सकती। प्रसिद्ध विदेशी यात्री मेगास्थनीज ने भी मुझे इस देश की तीन प्रमुख नदियों में एक माना है।

ऐसा नहीं कि प्राचीन ग्रन्थों में मेरी चर्चा नहीं मिलती। वैदिक काल तक मेरे सम्बन्ध में लोगों को पर्याप्त ज्ञान नहीं था। वस्तुतः वाल्मीकि रामायण से मेरी चर्चा आरम्भ होती है।

झेलम

यह मुख्यतः कश्मीर की नदी है। इसका अर्थ यह नहीं कि कश्मीर के बाहर इसका अस्तित्व नहीं। वस्तुतः कश्मीर की राजधानी श्रीनगर इसके दोनों ओर बसी है। बीच-बीच में नदी पर पुल निर्मित कर दोनों भागों को जोड़ा गया है।

पंजाब की पाँच नदियों में यह भी एक है। कश्मीर में इसे 'वेथ' नाम से भी जानते हैं। लगता है, झेलम नाम इसका काफी बाद में पड़ा। ऋग्वैदिक काल में इसे 'वितस्ता' कहा गया। महाभारत में भी इसका उल्लेख है और इसे तक्षक नाग का निवास-स्थल कहा गया है। यूनानी लेखकों ने इसे 'हाइडस्पीस' नाम दिया है।

झेलम का वास्तविक आकर्षण कश्मीर में केन्द्रित है। उसके मध्य धार में यहां सुन्दर हाउस बोट शिकारे बने हुए हैं जो किसी आधुनिक घर या होटल की सभी सुविधाओं से युक्त हैं। एक तरह से ये जल-महल हैं। चारों ओर झेलम का जल और बीच में ये शिकारे।

देशी-विदेशी पर्यटक होटलों की अपेक्षा उन्हीं में रहना अधिक पसन्द करते हैं।

इनकी विशेषता यह है कि उनमें रहने वालों को बाज़ार जाने की आवश्यकता नहीं होती। बाजार इन तक चल कर आते हैं। नन्हीं-नन्हीं डोंगियाँ इन तक सब कुछ पहुँचाती रहती हैं–सुन्दर आकर्षक फूलों से लेकर फल-फूल और भोज्य सामग्री तक। भेंट की वस्तुएँ, कश्मीरी शाल आदि सब इनके माध्यम से पर्यटकों को प्राप्त होती रहती हैं।

ये सजी-सजाई डोंगियाँ और कुछ करती हैं। शिकारा-निवासियों का झेलम में जल-विहार कराने का दायित्व इन्हीं का है। आवश्यकतानुसार जल-महल निवासी पर्यटकों का थल अथवा सड़क से सम्पर्क ये ही बनाती हैं।

झेलम के शिकारे पर्यटकों के मुख्य आकर्षक हैं। कुछ बर्फों से खेलने कम, इन शिकारों में निवास कर आनन्द लेने अधिक आते हैं।

झेलम इस रूप में कश्मीर के लिए वरदान है क्योंकि उसके पर्यटन उद्योग में झेलम का बहुत बड़ा योगदान है।

जाड़ों में इन शिकारों में अक्सर सूनापन भर आता है क्योंकि तब झेलम बहुत ठंडी हो जाती है। कभी-कभी बर्फ से भी पट जाती है। तब उन शिकारों की ठंडक को झेलना आसान नहीं होता। पर्यटक अक्सर उनसे दूर ही रहते हैं।

इधर से कुछ वर्षों में झेलम और इसके शिकारों ने खूब झेला। आतंकवादियों के खूनी खेल ने झेलम के सफेद जल को प्रायः रक्तिम बना दिया—लाल।

आतंकवादियों की बारूद ने पर्यटकों को भी नहीं बख्शा। विदेशी पर्यटक तक गोलियों से भूने जाने लगे अथवा बन्दी बनाए जाने लगे। फलतः पर्यटकों का कश्मीर आना ही पूर्णतया बाधित हो गया। झेलम पर इठलाते शिकारे सूने हो गए। इन पर अठखेलियाँ करतीं डोंगियाँ तटों से बँध गईं। झेलम बहती रही पर इसकी धारा में इसके आठ-आठ आंसू भी घुलते रहे।

कुछ दिनों तक यही स्थिति रही। अभी पूर्ण सुधार नहीं हुआ है। आशा है झेलम के पुराने गौरवशाली दिन फिर लौटेंगे। पर आतंकवाद अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप ले चुका है। पाकिस्तान ने अपने घुसपैठियों को भेजने के अतिरिक्त कश्मीर के अन्दर भी यहाँ के नागरिकों विशेषकर किशोरों को दुर्गम जंगल-पहाड़ों में प्रशिक्षण देना आरम्भ कर दिया है। अभी-अभी उसके साथ कारगिल का भयावह युद्ध हुआ है। उस समय विदेशी पर्यटकों

के आगमन पर प्रबन्ध लगा दिया गया।

ऐसी स्थिति में झेलम की न्यारी शोभा पुनः उसी रूप में लौटेगी और यह पर्यटन-व्यवसाय में पहले की तरह योगदान करती रहेगी, यह विश्वासपूर्वक नहीं कहा जा सकता। कश्मीर को 'धरती का स्वर्ग' बनाने में झेलम, इसके शिकारों और मनभावन नन्हीं नौकाओं का भी पर्याप्त हाथ रहा है। काश! झेलम पुनः कश्मीर को 'ज़मीन पर स्वर्ग' बनाने में अपनी भूमिका निभा पाती!

निस्सन्देह, झेलम भारत की नदी है, केवल कश्मीर की नहीं, पर जितना इसने कश्मीर को उपकृत किया है, उतना भारत के किसी और भाग को नहीं। यह कश्मीर की जीवन-रेखा है। ईश्वर करें यह यहीं बनी रहे।

झेलम के सम्बन्ध में यह सदिच्छा यों ही नहीं व्यक्त की जा रही। यह भारत की सांस्कृतिक नदियों में से एक है। ऋग्वेद में इसके उल्लेख के सम्बन्ध में पहले ही कहा गया है। वस्तुतः ऋग्वेद के जिस सूक्त में इसे वितस्ता की संज्ञा प्रदान की गई है, उस सूक्त की संख्या है–10/75/5।

वितस्ता का ही अपभ्रंश हुआ 'वेथ' जिस नाम से कश्मीर के अनेक लोग इसे अब भी पुकारते हैं।

यह वस्तुतः हमारी वैदिक ही नहीं पौराणिक नदी भी है। महाभारत वन-पर्व (82-89-90-91) में भी इसका विस्तार से उल्लेख है।

महाभारत में इसका उल्लेख जिस श्रद्धा से किया गया है वह निम्नलिखित श्लोकों से स्पष्ट है–

वितस्तां च समासाद्य संतर्व्य मितृदेवताः।
नरः फलमवाप्नोति वाजपेयस्य भारत।। (89)

–हे भारत (भीष्म!) वितस्ता (झेलम) पहुँचकर वहाँ जो देवताओं और पितरों का तर्पण करता है उसे वाजपेय यज्ञ का फल प्राप्त होता है।

इससे यह सिद्ध होता है कि अभी इस नदी को चाहे जिस दृष्टि

से देखा जाता हो पहले यह गंगा और गोदावरी की तरह पवित्र–तोया नदियों में परिगणित थी और यह भारत की तीर्थ-नदी थी।

अगला श्लोक जिसमें इसे तलक्र-नाग का आवास बताया गया है, इस प्रकार है–

काश्मीरस्वेव नागस्य भवनं तक्ष कस्य च।
वितस्ताख्यामिति ख्यातं सव्रपापप्रपोचनम्।   (90)

–काश्मीर में ही नागराज तक्षक का वितस्ता नाम से (ही) प्रसिद्ध भवन है जो सर्व पापों का विनाशक है।

इस श्लोक की महत्त्वपूर्ण विशेषता पर ध्यान देना चाहिए। महाभारत का मात्र यही एक श्लोक कश्मीर को भारत का अभिन्न अंग घोषित करता है। भला कोई अपने सांस्कृतिक और आध्यात्मिक धरोहरों को किसी और मुल्क को कैसे सौंप सकता है? कोई पाँच हज़ार वर्ष पूर्व रचित महाभारत के इस श्लोक को हमारे कूटनीतिज्ञ, कश्मीर माँगने वाले पाकिस्तान के मुख पर क्यों नहीं दे मारते? पर इनमें कितनों ने अपने सद्ग्रन्थों के पन्ने पलटे भी हैं?

तीसरे श्लोक में इस नदी की धार्मिक महत्ता को और गहराई से रेखांकित किया गया है–

तत्र स्नात्वा नरो नूनं वाजपेयमवात्नुयात्।
सर्व पाप विशुद्धात्मा गच्छंच्च परमां गतिम्।।

–इसमें स्नान कर मनुष्य निश्चय ही वाजपेय यज्ञ का फल प्राप्त करता है और सब पापों से मुक्त होकर उत्तम गति को प्राप्त करता है।

उपर्युक्त से स्पष्ट होगा कि झेलम की वास्तविक महत्ता को परवर्ती काल में प्रायः विस्तृत कर दिया गया। पौराणिक काल में जो इसका महत्त्व रहा वह आज नहीं है।

केवल ऋग्वेद और महाभारत में उसका उल्लेख हुआ है, यह बात नहीं। अन्य पुराणों में भी इसकी चर्चा उपलब्ध है।

एक पौराणिक आख्यान के अनुसार इसकी पवित्रता इस कारण भी अपरिमेय है कि स्वयं सदाशिव पशुपति शंकर द्वारा एक वितस्ति (बारह अँगुल के बराबर) छिद्र करके इस नदी को प्रकट किया गया था। इसके वितस्ता नामकरण के पीछे भी यही कारण है।

और तो और संस्कृत काव्यकारों ने भी इसके महत्त्व को समझा इसके प्राकृतिक आकर्षण में आबद्ध हुए। इसकी लहरियाँ उन्हें भायीं। प्रसिद्ध संस्कृत कवि कल्हण की 'राजतरंगिणी' में भी इसका उल्लेख आया है।

जो हो झेलम आज की तारीख में पर्यटन, व्यवसाय और कृषि (सिंचाई) की नदी बनकर रह गई है। इसका धार्मिक महत्त्व, इसकी तीर्थ-प्रकृति और इसके साहित्यिक अवदान की ओर किसी का ध्यान नहीं जाता।

पंचनद प्रदेश (पंजाब) को शस्य श्यामला और अन्न का भण्डार बनाने में इसका योगदान भी महत्त्वपूर्ण है।

पुनपुन

भारत की कई नदियों का महत्त्व धार्मिक है। इनमें बिहार की पुनपुन नदी पर्याप्त उल्लेखनीय है।

इस नदी की पौराणिक विशिष्टता प्रसिद्ध है। यह मान्यता है कि इस नदी में पिण्ड-दान करने से पितरों को प्रेत-योनि से मुक्ति मिल जाती है। इस दृष्टि से यह नदी गंगा यमुना आदि पवित्र नदियों की श्रेणी में आती है। यद्यपि यहाँ पिशाचोद्धारण के कारण इसका नाम कभी पिशाचिका भी पड़ा था।

वस्तुतः पुराणों में इसका नाम पुनःपुना मिलता है–

मगधेषु गया पुण्या पुण्यं
राजग्रह वनम्।
च्यवनस्याश्रमं पुण्यं
नदी पुण्या पुनःपुना।।

–मगध में गया पुण्य-स्थल है। राज्यग्रह-वन पुण्य-प्रदायी है। ऋषि च्यवन का आश्रम पुण्य-भूमि है और पुनःपुना नदी पुण्यमयी है।

अतः गंगा-यमुना की श्रेणी में उस नदी को रखकर हमने कोई आपत्तिजनक कार्य नहीं किया।

पुनपुन नदी में पिण्डदान करने पूरे भारत के लोग आते हैं। पितृ पक्ष में तो सुदूर दक्षिणवासियों को भी इसके तट पर देखा जा सकता है। इस समय यहाँ विराट मेला लगता है। पुनपुन के पश्चात् लोग फल्गु नदी में पिण्डदान करते हैं।

यों तो इस नदी में सर्वत्र पिण्डदान होता है पर निम्नलिखित तीन स्थान अधिक प्रसिद्ध हैं–

(1) औरंगाबाद जिले के जम्होर ग्राम के पास। यह ग्राम ग्रैंड कॉर्ड रेल लाइन तथा शेरशाह महापथ के समीप दक्षिण भाग में है।

(2) देवहरा–यह औरंगाबाद जिला के एक प्रसिद्ध नगर, दाउदनगर–गोह मार्ग पर अवस्थित है।

(3) पुनपुन–यह स्थान पटना-गया रेल लाइन पर पटना से प्रायः 9½ कि. मी. दक्षिण में अवस्थित है। पुनपुन एक रेलवे स्टेशन भी है।

पुनपुन नदी पलांगू के उत्तरी भाग से निकलती है। उसके उद्गम स्थल पर शोभीचक और सरैया ग्राम हैं। अतः पुनपुन एक पर्वतीय नदी नहीं है पर उसकी सहायक नदियाँ पर्वतीय अवश्य हैं। इसी कारण इसमें जल की कमी नहीं होती, वह जल चाहे बरसात में ऊपर रहे या जाड़े-गर्मी में इसके रेतीले पेट में।

अब हम पुनपुन के प्रवाह-मार्ग और इसकी सहायक नदियों के सम्बन्ध में कुछ जानेंगे।

अपने उद्गम स्थान से निकलकर 'बारा' स्थान से पूर्व, गया जिला में यह नदी प्रवेश करती है। आगे बढ़ते हुए यह दो प्रसिद्ध नगरों चन्दरगढ़ और नवीनगर के समीप से गुजरती है। चन्दरगढ़ एक प्रसिद्ध ऐतिहासिक स्थल है। यहाँ चौहान राजपूतों का एक परिवार है जो मूलतः मेवाड़ का है। 1857 के स्वतन्त्रता-संग्राम में इन राजपूतों ने अंग्रेजी सल्तनत की सहायता की थी जिसके फलस्वरूप यहाँ के तीन व्यक्तियों को राजा-बहादुर की उपाधि प्राप्त हुई थी। यहीं एक पुराना मुगलकालीन किला भी है जिसका निर्माण सत्रहवीं शताब्दी के अन्त में हुआ था।

नवीनगर भी एक विख्यात स्थान है। डेहरी-डाल्हेनगंज रेलवे का यह एक प्रसिद्ध स्टेशन है। यह अपने कुटीर उद्योग के लिए प्रसिद्ध है। यहाँ धातु के उत्कृष्ट बर्तन बनते हैं। यह अपनी रुई और कम्बल के लिए भी ज्ञात है। नवीनगर का क्षेत्र शुष्क और पथरीला है तथा

यहाँ पानी का घोर अभाव रहता है। नवीनगर थाने के समीप एक प्राचीन सूर्य मन्दिर है जहाँ चैत्र और कार्तिक छठ-पर्वों पर विशाल मेला लगता है। छठ, बिहार और पूर्वी उत्तर प्रदेश का अत्यन्त लोकप्रिय पर्व है जिसमें उगते ही नहीं, डूबते सूर्य की भी उपासना की जाती है, उसे अर्घ्य दिया जाता है।

पुनपुन आगे बढ़ती है तो इसमें कई स्रोत आ मिलते हैं। एक स्रोत गया जिले के रामनगर स्थान के पास मिलता है। इस स्रोत का उद्गम-स्थल भी पलायू के उत्तरी छोर की एक अधित्यका है। यह स्रोत पुनपुन को पर्याप्त समृद्ध कर देता है। पर पुनपुन अभी तक एक महत्त्वपूर्ण नदी का रूप नहीं ले पायी है। इसका असल रूप तब निखरता है जब रामरेखा नदी इससे विश्रामपुर के पास संगम करती है। इसके पश्चात् पुनपुन एक पूर्ण नदी बन आती है। पर अभी पुनपुन की सहायक नदियों की सूची समाप्त नहीं हुई है।

इससे संगम करने वाली एक प्रसिद्ध नदी बटाने है। बटाने स्वयं एक अच्छी-खासी बड़ी नदी है। इसकी एक सहायक नदी है बटरा।

बटरा को समेटते हुए बटाने बारून थाने के सुन्दरगंज में आती है। यह सुन्दर सिंह नामक एक प्रसिद्ध जमींदार के नाम पर बसा है। यहाँ एक किले का ध्वंसावशेष है। आगे बढ़ने पर बटाने नदी के पूर्वी भाग में पवई नामक एक प्रसिद्ध स्थान मिलता है। पवई की विशेषता यह है कि यहाँ एक छोटी-सी पहाड़ी है जिसे झुनझुना-पहाड़ी कहते हैं। इस पहाड़ी को कहीं से ठोकर दें तो सम्पूर्ण पहाड़ी झनझनाने लगती है। इसी कारण इसका ऐसा नामकरण हुआ। यहाँ से गुजरने वाला हर व्यक्ति इसे पैर या हाथ से ठोकर देना नहीं भूलता और इसकी झनझनाहट का संगीत सुनकर अपने कानों को तृप्त करता है। प्रकृति का यह चमत्कार बहुत अजूबा नहीं है। प्रकृति में ऐसी बहुत-सी बातें हैं जिन्हें हम समझ नहीं पाते। एक घास होती है–'छुई-मुई'। इसके एक पत्ते को उँगली से छू दो तो इसके सारे पत्ते एक साथ ही मुरझा

जाते हैं फिर थोड़ी देर के पश्चात् वे स्वयं प्रकृतिस्थ हो आते हैं। इन पंक्तियों के लेखक ने स्वयं इसे देखा है।

आगे बढ़ती बटाने जम्होर स्थान के पास पुनपुन से जा मिलती है। पहले बताया गया है कि जम्होर ग्राम के पास पितरों का पिण्डदान किया जाता है। बटाने और पुनपुन के इसी संगम पर यह पिण्डदान होता है। जो लोग काशी की ओर से गया में पिण्डदान करने आते हैं वे 'अनुग्रह नारायण रोड' स्टेशन पर उतरकर यहाँ पुनपुन नदी में पिण्डदान करते हैं यहीं पिण्डदानियों की सुविधा के लिए बिड़ला ने पुनपुन किनारे एक अच्छी धर्मशाला का भी निर्माण करा दिया है।

बटाने के आ मिलने से पुनपुन एक खासी बड़ी और गहरी नदी बन जाती है। यह कुछ दूर आगे बढ़ती है तो ओबरा थाने में प्रवेश कर गंज नामक स्थान पर आती है। इसी गंज के सामने औरंगाबाद-दाऊदनगर सड़क पर देकुली नामक स्थान है।

यहाँ एक प्राचीन मन्दिर के ध्वंसावशेष हैं जिन पर देवताओं की कई प्राचीन प्रस्तर-प्रतिमाएँ हैं। इनमें एक विष्णु की, दो गणेश की हैं। बीस शिव-लिंग भी प्राप्त हुए हैं इस स्थान (लेखक द्वारा दृष्ट) को देखने तथा देकुली नाम के कारण प्रतीत होता है कि पहले कभी यहाँ वस्तुतः एक बड़ा देवकुल–विभिन्न देवी-देवताओं के मन्दिरों का समूह–रहा होगा। यहाँ प्राप्त ईंटें बतलाती हैं कि पहले यहाँ एक बौद्ध मठ या विहार रहा होगा। बिहार तो बौद्ध विहारों के लिए प्रसिद्ध ही रहा है और इसीलिए इस प्रान्त का नाम बिहार अथवा विहार पड़ा।

गंज से यह नदी आगे बढ़ती है। फिर पहुँचती है दाऊदनगर रोड के पास ओबरा। ओबरा का अपना महत्त्व है। यहाँ का कुटीर उद्योग प्रख्यात रहा है। यहाँ के कालीन और गलीचे विख्यात हैं। विदेशों में भी इनकी माँग है। पर आजकल सरकारी सहायता (सब्सिडी) के अभाव में ओबरा का विश्व प्रसिद्ध गृह-उद्योग विनाश के कगार पर है। इसके फलस्वरूप यहाँ के बहुत से कारीगर भुखमरी के कगार पर हैं। ओबरा,

विशेषकर कालीन के मामले में (लेखक द्वारा दृष्ट) कभी बिहार का गौरव था। सरकारी उदासीनता के फलस्वरूप इसकी हालत खस्ता हो गई। पता नहीं ओबरा के दिन कब लौटेंगे। यहाँ की कालीनें कलात्मक दृष्टि से कश्मीर की कालीनों से लोहा लेती थीं।

पुनपुन नदी इस रूप में भाग्यशालिनी है कि इसके किनारे एक अच्छी खासी सभ्यता विकसित हुई जो धार्मिक और आर्थिक दोनों दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण रही।

पुनपुन से अन्य महत्त्वपूर्ण संगम अदरी नदी का ओबरा में प्रवेश के पश्चात् कोई 5 कि. मी. के बाद होता है। इस संगम-स्थल का नाम 'दोमोहन' है। यह संगम-स्थल अत्यन्त ही रमणीय एकान्त तथा शान्त है। यहाँ पहुँचकर व्यक्ति को नैसर्गिक आनन्द का बोध होता है।

धार्मिक वातावरण यहाँ भी है। प्रायः संगम-स्थल को पुनीत माना जाता है। यहाँ तक तो पुनपुन पूरी तरह भरी-पूरी नदी हो जाती है अतः ओबरा के पास अदरी का इसमें आ मिलना, एक विशेष महत्त्वपूर्ण संगम का सृजन करता है। इस स्थान पर प्राचीन काल के पाँच मन्दिर अब भी वर्तमान हैं। ये प्रायः सुरक्षित अवस्था में हैं इसमें भगवान विष्णु, गणेश, हनुमान, शिव-पार्वती की विशेष भंगिमा की मूर्त्तियाँ उपलब्ध हैं। ये मन्दिर प्रायः ढाई सौ वर्ष पुराने हैं। ये मन्दिर गणेश शाह के पुत्र श्री जीतन सहाय द्वारा सन् 1761 ई. में निर्मित हुए थे। ऐसा मन्दिर के चौखट पर अंकित है। यह ईस्वी सन् मन्दिरों की स्थिति को देखते हुए शुद्ध नहीं लगता है क्योंकि तब ये 244 वर्ष पुराने हो जाएँगे। मौसम की इतनी मार झेलने के पश्चात् ये मन्दिर ऐसी स्थिति में नहीं रहते।

नदी आगे बढ़ती है और ओबरा से प्रायः 3 कि. मी. दूर मनौरा शरीफ नामक स्थान पर पहुँचती है। यह स्थान इस्लाम प्रभावित है अब तक तो नदी-तट पर हिन्दू देवी-देवताओं के ही मन्दिर-मूर्ति मिलते रहे हैं। यहाँ किसी मुसलमान फकीर की दरगाह स्थित है। यहाँ दोनों समुदायों

के स्त्री-पुरुष मनौतियाँ माँगने आते हैं और एक बड़ा मेला भी लगता है।

यह संगम वस्तुतः विभिन्न धर्मों का संगम-स्थल रहा है। गाँव के पूर्व भाग में एक पुराने मन्दिर में काले पत्थर की अवलोकितेश्वर बोधिसत्व की प्रायः 7 फीट ऊँची भव्य मूर्ति उपलब्ध है। यह एक गुप्तकालीन मन्दिर है। गुप्तों के उत्कर्ष काल में ऐसे मन्दिर बहुत स्थलों पर बनाए गए थे। उस समय अवश्य ही इस क्षेत्र में बौद्ध धर्मावलम्वी रहे होंगे। मूर्ति के पार्श्व भाग में शेर तथा गज की आकृतियाँ अंकित हैं। सिंह तथा हाथी के ऊपर प्रफुल्लित कमल पुष्प पर ही मूर्ति योगासन मुद्रा में अवस्थित हैं। मूर्ति भव्य है एवं इसके मुखमण्डल के चारों ओर चक्राकृति में एक प्रभा फूटती-सी प्रतीत होती है।

इस मन्दिर पर बाद में वैष्णव और शैव मतावलम्बियों का अतिक्रमण हुआ प्रतीत होता है क्योंकि बोधिसत्व की मूर्ति एक दीवार से जड़ दी गई है और मन्दिर के मध्य भाग में दो शिवलिंग स्थापित हो गए हैं। शिवलिंगों के पास शिव-वाहन नन्दी का विग्रह भी स्थापित कर दिया गया है। मन्दिर की अन्दर की दीवारों पर गणेश, पार्वती और विष्णु की मूर्तियाँ भी जड़ी हैं।

पुनपुन अपनी यात्रा-पथ पर अग्रसर होती रहती है। एक स्थान अलपा के उत्तर में, इसमें वृद्ध पुनपुना अपना जल विसर्जित कर देती है। इसके पश्चात् एक दूसरी नदी इससे मिलती है वह मदार है। मदार का उद्गम स्थल शेरघाटी चौक से प्रायः 20 कि. मी. पश्चिम है। मदार पर्वतीय नदी पर है इसका जल-स्रोत मध्यम दर्जे का है। वस्तुतः इसकी सहायक नदियाः, टेकारी, केसनर, झरती आदि इसमें बहुत-सा जल उड़ेल देती हैं। झरही इनमें प्रमुख है। इसका उद्गम-स्थल ऐतिहासिक स्थान उमगा के दक्षिण की एक पहाड़ी में है।

प्राचीन काल में 'उमगा' एक प्रसिद्ध नगर रहा है। यहाँ के अग्नावशेष इस बात को सिद्ध करते हैं। झरही के स्रोत से 3 कि. मी. पूर्व में उमगा का प्राचीन किला एक पहाड़ी पर है। प्रसिद्ध सूर्य-मन्दिर

देव से इसकी दूरी कोई 13 कि. मी. पूरब है।

देव एक छोटा राज्य था और इसके पूर्वज पहले 'उमगा' में ही थे। यहाँ से चलकर इन्होंने देव राज्य का गठन किया था। यह घराना राजस्थान के प्रसिद्ध नगर उदयपुर से आया था। उदयपुर के राणा के छोटे भाई राय भान सिंह एक बार जगन्नाथपुरी की यात्रा के क्रम में उमगा आए। उस समय उमगा का राज्य-संचालन राजा भैरवेन्द्र की युवा विधवा करती थीं। राय भान सिंह और विधवा रानी एक दूसरे की ओर आकृष्ट हुए और दोनों वैवाहिक सूत्र में बँध गए।

'उमगा' में अनेक दर्शनीय स्थल हैं। वहाँ एक पहाड़ी की ढलान पर 'ग्रेनाइट' पत्थरों से निर्मित एक बड़ा सुन्दर मन्दिर है। इसके बाहरी मण्डप की छत बड़ी-बड़ी चट्टानों से निर्मित ऊँचे स्तम्भों पर खड़ी है। मन्दिर की जुड़ाई में कहीं भी सीमेण्ट का प्रयोग नहीं हुआ है।

इस मन्दिर पर किसी इस्लाम राजा ने आक्रमण किया था क्योंकि इसके प्रवेश द्वार पर अरबी लिपि में कुरान की आयतें लिखी हैं। मन्दिर की मूर्तियाँ भंग कर दी गई थीं। बाद में किसी हिन्दू राजा ने इन आयतों को लोहे की छेनियों से छिलवा दिया। पर मन्दिर के बाहर काले पत्थर पर एक अभिलेख मिला है जिस पर अंकित है कि राजा भैरवेन्द्र ने इसे 1439 ई. में निर्मित करवाया था और इसमें भगवान जगन्नाथ, बलराम और सुभद्रा की मूर्तियाँ स्थापित कराई। यही अभिलेख यह भी स्पष्ट करता है कि अपने पूर्वजों के नियम के अनुसार 'उमगा' नगर पहाड़ी पर बसाया गया था।

उमगा के इस मन्दिर के दक्षिण में एक विशाल किन्तु प्राचीन जलाशय भी है। इसमें पत्थरों की सीढ़ियों की पंक्ति आज भी दर्शनीय है। उमगा नगर, उसके किले तथा मन्दिरों के अलावा उमगा की पहाड़ी में अन्य कई छोटे-बड़े मन्दिर वर्तमान हैं। इससे प्रतीत होता है कि यहाँ के शासक धर्म-परायण होते थे और स्थापत्य में भी उनकी पर्याप्त रुचि थी।

मदार नदी झरही नदी का जल लेकर आगे बढ़ती है। मदार रफीगंज और गोह की सीमा रेखा बनती उत्तर की ओर प्रवाहित होती है और अन्ततः शंखपुरा के पास पुनपुन में मिल जाती है। मदार नदी के मिलन से पुनपुन की धारा और विस्तृत तथा प्रबल हो जाती है। मदार और पुनपुन के संगम पर बरारी ग्राम में, अनेक तीर्थयात्री उपस्थित होते हैं। इस ग्राम में शिव और शक्ति दोनों के अत्यन्त प्राचीन मन्दिर हैं।

आगे बढ़ने पर पुनपुन में मोरहर नदी आकर मिलती है। इसके पश्चात् इसका प्रसिद्ध संगम दरधा नदी से होता है। दरधा और मोरहर के संगम के बाद पुनपुन फतेहपुर पहुँचती है। फतेहपुर में एक बड़ा पुल पुनपुन तट बना है। आगे बढ़ने पर इसके दाहिने तट पर प्रसिद्ध ऐतिहासिक ग्राम फतुहा है।

पुनपुन की दीर्घ और आकर्षक यात्रा यहीं पर समाप्त होती है और फतुहा के पास ही गंगा के दाहिने तट पर वह उसमें जा मिलती है। गया में पिण्डदान करने वाले फतुहा के पास भी पुनपुन नदी में पिण्डदान करते हैं।

पुनपुन की उपर्युक्त यात्रा यह सिद्ध करती है कि यह वस्तुतः एक धार्मिक, सांस्कृतिक तथा प्राकृतिक आकर्षण से पूर्ण नदी है।

फल्गु

पुनपुन की चर्चा हो और फल्गु उपेक्षित रह जाए यह हो नहीं सकता। पिण्डदान के लिए वस्तुतः फल्गु ही प्रसिद्ध है। पुनपुन तो उसकी भूमिका मात्र प्रस्तुत करती है। यह सही है कि पीछे लिखा गया है कि पुनपुन के तीन स्थानों पर पितरों के लिए पिण्डदान होता है, पर यह पिण्डदान तब तक पूर्ण नहीं होता जब तक गया नगर जाकर फल्गु में पिण्डदान नहीं किया जाए।

पुनपुन में पिण्ड-दान का एक कारण यह भी हो सकता है कि जो किसी कारण गया नहीं जाना चाहते हों वे पुनपुन में ही यह क्रिया सम्पन्न कर निवृत्त हो जाएँ क्योंकि पुराणों में इस नदी को भी इस योग्य बताया गया है।

भगवान राम ने भी दशरथ के लिए फल्गु नदी में पिण्डदान किया था। यह किम्वदन्ती नहीं है अपितु इसका शास्त्रीय प्रमाण है। वायु-पुराण में उल्लिखित है–

महानदी प्रयासाद्यो संगमे स्नान कृन्नरः।
रामो देव्या सह स्नातो रामतीर्थं ततः स्मृतम्॥

यहाँ स्नान कर राम-सीता ने पिण्डदान किया अतः इसलिए जिस स्थान पर यह क्रिया-सम्पन्न हुई उसे 'राम गया तीर्थ' की संज्ञा मिली। यह तीर्थ अब लुप्त प्रायः है।

अब फल्गु के उद्गम एवं अन्य विशेषताओं को देखें। यह नदी गया से प्रायः 6 कि. मी. दक्षिण 'मनकोशा' नामक स्थान से निकलती

है। यहीं पर दो नदियों 'मोहना' और 'निरंजन' का संगम होता है। इसी संगम से यह नदी निकलती है। यहाँ से उत्तर-वाहिनी हो यह आगे बढ़ती है और गया नगर के पूर्वी भाग को स्पर्श करती है। अपितु यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि प्रसिद्ध गया नगर इसी के तट पर बसा है। गया एक अत्यन्त प्राचीन नगर है। यह दिल्ली, प्रयाग, वाराणसी, मद्रास (चेन्नई) तथा पटना (पाटलिपुत्र) से भी प्राचीन है।

गया नगर की प्राचीनता की गाथा महाभारत के वनपर्व में मिलती है। इसके अनुसार 'गय' नामक चन्द्रवंशी राजा ने पूर्वी भारत की राजधानी अपने नाम पर गया नगर के रूप में बसाई। यहाँ उसने मोहना-निरंजन-संगम पर एक बहुत बड़ा यज्ञ किया जिसमें असंख्य लोगों ने अन्न ग्रहण किया। इसमें उच्चरित मन्त्रों से आकाश कई दिनों तक ध्वनित-प्रतिध्वनित होता रहा। इसमें यज्ञ कराने वाले ब्राह्मणों को प्रचुर स्वर्ण-मुद्राएँ दी गईं।

गया से गयासुर नामक राक्षस का भी सम्बन्ध जोड़ा जाता है। वायुपराुण के अनुसार गयासुर नामक दैत्य ने तप कर ब्रह्मा से यह वरदान माँगा था कि जो कोई मेरे दर्शन कर ले उसे मोक्ष की प्राप्ति हो जाए। ब्रह्मा ने इस शर्त पर यह वरदान दिया था कि गयासुर को यज्ञ-वेदी के लिए अपने प्राण विसर्जित करने होंगे। गयासुर ने अपने प्राण त्याग दिए और तभी से यह स्थान उसके नाम पर गया के नाम से प्रसिद्ध हुआ। किन्तु वायुपुराण अपेक्षाकृत नया है, अतः यह कथा किंवदन्ती से अधिक कुछ नहीं लगती। महाभारत के आख्यान को भी मान्यता देना उचित प्रतीत होता है।

फल्गु और गया वस्तुतः पिण्डदान या गया-श्राद्ध के लिए अधिक प्रसिद्ध हैं। यों तो गया एक बहुत बड़ा व्यावसायिक नगर है। इसकी आबादी उतनी घनी है कि सड़कों विशेषकर संकरी गलियों में चलना कठिन हो जाता है।

गया का प्रसिद्ध मन्दिर, विष्णुपद मन्दिर है। इसके नामकरण के पीछे मन्दिर में उपलब्ध विष्णु के पद हैं। इस मन्दिर का निर्माण महारानी अहिल्या बाई ने 1787 ई. के आसपास कराया था। वह महाराष्ट्र की

एक विधवा महारानी थीं। जयपुर से, इसके लिए विशेष रूप से शिल्पी मँगाए गए थे। विष्णुपद मन्दिर पूर्ण रूप से काले ग्रेनाइट पत्थरों से बना है। जयपुर के प्रस्तर-शिल्पियों में से कुछ यहीं बस गए तब से गया प्रस्तर-शिल्प सम्बन्धी कार्य के लिए प्रसिद्ध हो गया। यह प्रसिद्धि अब तक वर्तमान है।

फल्गु नदी के पश्चिमी तट पर कुछ दूरी के पश्चात् सिंगरा नामक एक मठ है। इसका निर्माण 1560 ई. के आसपास हुआ था। यहीं पर श्रावण के महीने में एक वृहत् मेला लगता है। इसमें आने वाले यहाँ के प्रसिद्ध शिवलिंग के दर्शन अवश्य करते हैं। इसी स्थान पर पर्वतों से घिरी एक घाटी में गाय-बछड़े की एक पाषाण-मूर्ति है जहाँ सिंगरा से तीर्थ यात्री आकर पितरों का तर्पण करते हैं।

गया का अलयवट बहुत प्रसिद्ध है। इसके पूरब में तथा फल्गु नदी के वाम भाग में ब्रह्मसरोवर है। आगे गायत्री तीर्थ है। गायत्री तीर्थ से आगे बढ़ने पर फल्गु उत्तरमानस तीर्थ पहुँचती है। यह इसके बायें तट पर अवस्थित है।

इस तरह ब्रह्मसरोवर से मानस-तीर्थ तक फल्गु की कोई एक कि. मी. की धारा पिण्डदान और तर्पण के लिए पवित्र मानी जाती है।

नदी रामशिला पहाड़ के पास, गया नगर के क्षेत्र से निकलकर आगे बढ़ती है। बराबर पहाड़ से गुज़रती हुई यह आगे चलती है।

फल्गु कोई बड़ी नदी नहीं है। बराबर से निकलकर यह पटना जिला में प्रवेश करती है। बराबर पर्व के पश्चात् ही यह कई शाखाओं और प्रशाखाओं में विभक्त होने लगती है। नदी को गंगा में विलय का सौभाग्य नहीं मिलता है। शायद गंगा, इस पिण्ड-प्रिय पिशाच मोचिनी नदी के जल से अपने को अशुद्ध करना नहीं चाहती। खैर, अपने अन्तिम चरण में यह नदी पटना जिले के एकंगसराय, चण्डी, इस्लामपुर, फतुहा, हिलसा आदि में बिखरकर इन्हें उर्वरा बनाती है। जाते-जाते भी यह बहुत कुछ दे जाती है। यही इस नदी की विशेषता है।

सरयू

भारत की नदियों का वर्णन हो और सरयू उपेक्षित रह जाए, इससे बड़ा अपराध क्या हो सकता है? जिस प्रकार द्वापर में, कृष्ण काल में यमुना का महत्त्व बढ़ा और आज भी है, उसी प्रकार त्रेता में राम के कारण सरयू का महत्त्व बढ़ा और वह आज भी वर्तमान है।

सरयू-तीर ही अयोध्या का तीर्थ-नगर आज भी वर्तमान है। इसी अयोध्या में दशरथ-सुत के रूप में राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न का जन्म हुआ था। जनक नन्दिनी जानकी का यहीं शुभ विवाह हुआ था। साथ ही सरयू का महत्त्व इसलिए भी है कि इसी के एक घाट पर सरयू में उतरकर राम ने अपने भाइयों के साथ मृत्यु-ग्रहण कर स्वर्गारोहण किया था। भूमि-सुता जानकी तो पहले ही पृथ्वी द्वारा ग्रहण कर ली गई थी। यह प्रसिद्ध घाट अयोध्या से थोड़ी दूर पर है। यहाँ एक-दो छोटे मन्दिर भी हैं। मान्यता है कि इस घाट पर स्नान करने से सद्यः मुक्ति मिलती है।

सरयू-तीर-बसी अयोध्या मन्दिरों का नगर है। राम-लक्ष्मण-जानकी के यहाँ असंख्य मन्दिर हैं। बहुत-से तो उपेक्षित हैं और कइयों में रिक्शा वालों और भिक्षुकों का आवास बन गया है। इनके उद्धार की आवश्यकता है पर कौन और कब ऐसा करेगा?

अयोध्या के अभी दो प्रसिद्ध मन्दिर कनक-भवन एवं हनुमान-गढ़ी हैं। पहला अत्यन्त विशाल और प्रायः पूर्णतया श्वेत संगमरमर-निर्मित है। उसमें राम-जानकी के छोटे पर सुन्दर विग्रह स्थापित हैं। मन्दिर में

पूजा-पाठ और संकीर्तन नियम रूप से होते हैं।

हनुमान-गढ़ी, हनुमान जी का मुख्यालय है। किलानुमा इस मन्दिर में माँ अंजना की भी मूर्ति है। राम, लक्ष्मण जानकी की भी। इससे सटा एक बहुत बड़ा बाग है। कपिराज (हनुमान) के लिए तो वृक्षों (बाग) का महत्त्व है ही। इसमें बहुत सारे बन्दर रहते हैं जिन्हें हनुमान-स्वरूप समझकर ही लोग चना आदि खिलाते हैं। इस बाग में इमली के अनेक पुराने पेड़ हैं। बाग की हालत खराब हो रही है। वृक्षारोपण आवश्यक है।

सरयू-तीर-बसी अयोध्या ने विगत कई वर्षों में अनेक बार उथल-पुथल देखी। कुछ वर्षों पूर्व तो सरकारी गोलीबारी से सरयू का सफेद जल रक्तिम हो आया। यह सब हुआ विवादित ढाँचा बाबरी-मस्जिद को लेकर। उस समय मुलायम सिंह उत्तर प्रदेश के मुख्यमन्त्री थे। इस मस्जिद को, रामजन्मभूमि को तोड़कर बाबर द्वारा निर्मित करने की बात कही जाती है। उसी आधार पर देश-भर से आए युवा 'कार-सेवक' भारी संख्या में इस विवादित ढाँचे को ढहाने अयोध्या पहुँचे पर वहाँ पहुँचने के पूर्व ही अनेक गोलियों से भून दिए गए। बेचारी सरयू देखती रही।

अयोध्या का यह स्थल अब भी विवाद में है यद्यपि भाजपा के राज्य में कल्याण सिंह के मुख्य मन्त्रित्व-काल में इस ढाँचे को कार-सेवकों ने निर्मूल कर दिया। इसके लिए कई महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों पर मुक़दमा भी चल रहा है।

उधर विश्व-हिन्दू-परिषद् समाप्त ढाँचे के आसपास विशाल राम-मन्दिर के निर्माण की योजना बना रहा है।

अयोध्या में तनाव और विवाद अभी चलता रहेगा और सरयू जो कभी श्रीराम को बहुत प्रिय थी, यह सब देखने को अभिशप्त रहेगी–

अवधपुरी प्रभु आवत जानी।
भई सकल शोभा कै खानी

भई सरऊ अति निर्मल नीरा।
बहै सुहाव न त्रिविध समीरा।।

(रामचरितमानस--उ. काण्ड-5)

--यह ज्ञात कर कि प्रभु आ रहे हैं (लंका विजय कर) अवधपुरी सम्पूर्ण शोभाओं की खान हो गई। सरयू अति निर्मल जलवाली हो गई और तीनों प्रकार की सुहावनी वायु प्रवाहित होने लगी।

कुछ अन्य प्रमुख नदियाँ

गोमती

यह एक प्रसिद्ध नदी है जो कुमाऊँ में बहती है। यह अल्मोड़ा में बागेश्वर के पास सरयू नदी में मिल जाती है। इसके तट पर कई छोटे-बड़े तीर्थ हैं जिनमें वैद्यनाथ का मन्दिर सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। कुछ लोग इस मन्दिर के शिवलिंग को द्वादश ज्योतिर्लिंगों में एक मानते हैं–पर यह ज्योतिर्लिंग वस्तुतः झारखंड के देवघर (बैजनाथ) स्थान में है।

गोमती का वर्णन ऋग्वैदिक साहित्य में भी मिलता है। ऋग्वेद में मात्र तीन वेगवती नदियों–सरयू, सिन्ध और गोमती– का उल्लेख है और इन्हें यज्ञों की रक्षा का भार दिया गया है। उपर्युक्त सूत्र ने इन तीनों को आमन्त्रित किया है यज्ञों के रक्षार्थ। महाभारत में भी इस नदी का उल्लेख है।

इसके अतिरिक्त वामनपुराण, पद्मपुराण, मत्स्यपुराण तथा ब्रह्मांडपुराण में भी इसका उल्लेख आता है। महाभारत के अनुसार नृप दिवोदास की राजधानी का एक छोर गंगा के उत्तरी तट पर था और दूसरा गोमती की दक्षिणी दिशा में।

व्यास

पंचनद प्रदेश पंजाब की यह एक प्रमुख नदी है। सम्पूर्ण हिमाचल प्रदेश में यह प्रवाहित है। तत्पश्चात् यह पंजाब की धरती को सींचती है।

इसका वैदिक नाम विपाशा है। ऋग्वेद में इसका तीन बार उल्लेख हुआ है। ऋग्वेद के एक मन्त्र में कहा गया है कि इन्द्र द्वारा नष्ट किए जाने पर उषा देवी का शकट विपाशा नदी के तट पर गिर पड़ा।

कथा है कि इसके आरम्भिक नाम 'उरंजिरा' और 'आर्यीकीया' थे। वशिष्ठ मुनि जब एक बार किसी मनस्ताप से पीड़ित हो, इसमें अपने को बन्धनयुक्त कर, कूद पड़े और बाद में रस्सियों से मुक्त होकर बाहर आए तो इसका नाम विपाशा पड़ा।

ग्रीक लेखकों ने इसे 'हाइपासिस' नाम दिया है। गोपथ ब्राह्मण में भी इसका उल्लेख है।

विपाश् अथवा विपाशा ही अन्ततः व्यास नाम से विख्यात हुई। कुछ लोग इस नदी के नामकरण को महर्षि व्यास से संयुक्त करते हैं। इसका कोई पौराणिक प्रमाण नहीं है। यह बात अवश्य है कि ऋषि विश्वामित्र ने इसकी विपुल स्तुति की है। पंजाब की हरित क्रान्ति में इसका उल्लेखनीय योगदान है।

कृष्णा

यह भारत की प्रमुख नदियों में है तथा दक्षिण की अति प्रसिद्ध नदियों में इसकी गणना होती है। इसका उद्गम-स्थल भारत के पश्चिमी तट की पर्वत-माला है। यहाँ से निकल कर यह पूर्वाभिमुख प्रवाहित होती है। यह आन्ध्र प्रदेश में दूर तक बहती है। फिर इसी प्रदेश के नगर गुन्टूर के समीप बंगाल की खाड़ी में जा गिरती है।

इसकी एक प्रसिद्ध शाखा तुंगभद्रा है जो अपने में ही दक्षिण की एक प्रसिद्ध नदी है। ये दोनों नदियाँ एक दोआब बनाती हैं जिस पर आधिपत्य के लिए सदा संघर्ष होता रहा। इसे हस्तगत करने के लिए पूर्व में विजयनगर साम्राज्य और बहमनी राज्य में निरन्तर संघर्ष हुआ। कभी एक का इस पर पूर्ण या आंशिक अधिकार होता तो कभी दूसरे का।

इसी के तट पर अमरावती स्थित है। अमरावती की वास्तुकला और मूर्तिकला की अपनी विशिष्टता थी जो प्रसिद्ध गांधार शैली के समानान्तर बैठती थी। इसकी घाटी अत्यन्त उर्वरा है, अतः घाटी की आबादी भी बहुत घनी है।

गोदावरी

यह भारत की सात पुनीत नदियों में से एक है। यह भी दक्षिण भारत की प्रमुख नदियों में है।

दक्षिण में यह पश्चिम से पूर्व की ओर बहती है तथा अपनी 1280 किलोमीटर की यात्रा के दौरान एक बड़े भू-भाग को सिंचित करती जाती है, उसे उर्वरा बनाती जाती है। इसके किनारे कई प्रसिद्ध नगर बसे हैं, पुनीत तीर्थ सजे हैं।

गोदावरी-स्नान का महत्त्व पुराणों में वर्णित है। अपनी लंबी यात्रा तय कर यह अन्ततः बंगाल की खाड़ी में जा मिलती है। नदी जहाँ बंगाल की खाड़ी से संगम करती है, वह स्थान 'मसुलीपट्टन्' नाम से प्रसिद्ध है। इसका अपभ्रंश रूप 'मछलीपट्टम्' है।

●●●

स्वदेश-परिचय माला

भारत एक महान् देश है, जिसके संबंध में परिचय देने वाली यह पुस्तकमाला भारत के सभी पक्षों का पूरा विवरण देती है। प्रत्येक पृष्ठ पर दो रंग में कलापूर्ण चित्र, सुगम भाषा और प्रामाणिक तथ्य। इस पुस्तकमाला के लेखक हैं, प्रसिद्ध साहित्यकार, इतिहास और कला के मर्मज्ञ डॉ. भगवतशरण उपाध्याय।

भारत की कहानी
भारत की संस्कृति की कहानी
भारत के नगरों की कहानी
भारत के भवनों की कहानी
भारत की नदियों की कहानी
भारत की चित्रकला की कहानी
भारत की मूर्तिकला की कहानी
भारत के साहित्यों की कहानी
भारतीय संगीत की कहानी
भारत के पड़ोसी देश
विदेशों में भारतीय संस्कृति

प्रत्येक का मूल्य : रु. 35/-